दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९७ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २६ अंक नं० ९

वस्तुस्वभाव का विचार

जीवन मरण लाभ हानि जस अपजस,
तन धन परिजन सब आन आन हैं।
निज निज परिणामरूप सब परिणमें,
अन्यथा न होय कहैं भाषौ भगवान है।
काहूमें तें काहूकौ संयोग वा वियोग होउ,
मेरे तो न यासैं कछु विरधै न हानि है।
मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव अविनाशी सदा,
उपज खपज विधि उदै परवान है॥

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जनवरी : १९७१ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (३०९) एक अंक २५ पैसा [पौष : २४९७

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) समाचार

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रातः ८.०० से ९.०० बजे तक श्री अष्टपाहुड़ पर तथा दोपहर २.०० से ३.०० बजे तक श्री नाटक समयसार पर प्रवचन हो रहे हैं। श्री समयसारजी शास्त्र पर १६वीं बार के प्रवचन पिछले रविवार तारीख १७-१-७१ को समाप्त करके उसी दिन श्री नाटक समयसार पर प्रवचन प्रारंभ किये हैं। इनके अतिरिक्त प्रतिदिन जिन-मंदिर में पूजा-भक्ति आदि के कार्यक्रम बड़े उत्साह पूर्वक होते हैं और रात्रिचर्चा ७.०० से ८.०० बजे तक होती है। विशाल परमागम मंदिर का निर्माण कार्य चल रहा है जो भारत में अद्वितीय होगा।

गढडा स्वामीनारायण (सौराष्ट्र) में नूतन जिनमंदिर के शिलान्यास हेतु तथा अन्य नगरों में पूज्य स्वामीजी का विहार तारीख ४-२-७१ को हो रहा है। विहार का कार्यक्रम निम्नानुसार है:—

गढडा स्वामीनारायण	तारीख ४ तथा ५ फरवरी
पाटी	तारीख ६ फरवरी
बोटाद	तारीख ७ से ११ फरवरी
वींछिया	तारीख १२ से १८ फरवरी
सोनगढ़ आगमन	तारीख १९ फरवरी के प्रातःकाल

इस वर्ष सोनगढ़ में श्री दिगम्बर जिनमंदिर की ३१वीं वर्षगाँठ फाल्गुन शुक्ला-२ को विशेष उल्लासपूर्वक मनाने का आयोजन है।

☆ ☆ ☆

हिन्दी आत्मधर्म में आनेवाले सब लेख (किन्हीं-किन्हीं विशेष लेखों को छोड़कर) गुजराती आत्मधर्म से लिये जाते हैं; जिनके लेखक श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन हैं।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : श्री ब्र० गुलाबचंद जैन

जनवरी : १९७१ ☆ पौष : वीर नि० सं० २४९७, वर्ष २६वाँ ☆ अंक : ९

निश्चयचारित्र ही मोक्ष का कारण है

शुद्धात्मा के श्रद्धा-ज्ञान से रहित जीव भले ही पंच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र का बराबर पालन करता हो, समिति-गुप्ति में सावधान हो, शील एवं तप सहित हो, तथापि वह जीव चारित्र रहित है; मोक्ष के कारणरूप सम्यक्चारित्र की उसे खबर नहीं है और शुभराग को ही वह मोक्ष का कारण समझता है। व्यवहारचारित्र होने पर भी उसकी मुक्ति नहीं होती—यह दृष्टांत देकर आचार्यदेव ऐसा सिद्धांत समझाते हैं कि पराश्रित ऐसा व्यवहारचारित्र, वह मोक्ष का कारण नहीं है; शुद्धात्मा में एकाग्रतारूप निश्चयचारित्र ही मोक्ष का कारण है। इसलिये मोक्षार्थी जीव को निश्चय का आश्रय करना और व्यवहार का आश्रय छोड़ना चाहिये। पर के आश्रय से होनेवाले राग का कोई अंश मोक्ष का साधन नहीं है; स्वभाव के आश्रय से होनेवाला वीतरागभाव ही मोक्ष का साधन है।

आत्माश्रित मोक्षमार्ग का वर्णन

(अहमदाबाद में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन : तारीख २२-११-७०)

सोनगढ़ से मंगलप्रस्थान करके मगसिर कृष्णा अष्टमी के दिन पूज्य श्री कानजीस्वामी अहमदाबाद पधारे... जिनमंदिर में आदिनाथ भगवान के दर्शन करने के पश्चात् स्वागत के बाद मंगल-प्रवचन में आत्मा की जीवत्वशक्ति का स्मरण करते हुए कहा कि ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर राग से भिन्न निर्मल ज्ञान-आनंदमय दशा प्रगट हो, वह मांगलिक है, वही आत्मा का सच्चा जीवन है। पाँच दिन तक प्रवचन में समयसार गाथा २७२ से २७५ वीं पर प्रवचन हुए; प्रवचन में हजारों जिज्ञासुओं की उपस्थिति रहती थी; प्रवचन का कुछ सार भाग यहाँ दिया जा रहा है।

भगवान आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप वस्तु है; वह अपने को भूलकर स्वयं के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ के आश्रित सुख होना मानता है, उसमें मिथ्यात्व का सेवन होता है। आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तेरा स्वभाव स्वतः परिपूर्ण है, अपने आश्रय से ही तेरी मुक्ति होनेवाली है; पर का आश्रय प्राप्त करने जाते समय तो अशुभ अथवा शुभराग के बंधन से दुःख ही होता है। मुक्ति का मार्ग पर के आश्रित नहीं, मुक्ति स्वद्रव्य के आश्रित है।

तू जीव है, तो तेरा जीवत्व कैसा? तेरा जीवन कैसा है? उसकी यह बात है। तू स्वयं अतीन्द्रिय आनंदरस का भंडार है। शरीर तो जड़ है, अंदर की पुण्य-पाप के रागभाव भी अशुचि हैं, इसमें चैतन्य का आनंद नहीं, यह पराश्रितभाव मुक्ति के कारण नहीं हो सकते; मुक्ति का मार्ग चैतन्यमय स्वद्रव्याश्रित है। शुद्ध आत्मा को जो नहीं पहिचानते, उसके सन्मुख होकर सच्चे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं करते हैं, एवं पराश्रित शुभभावरूप व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का सच्चा कारण समझकर सेवन करते हैं, वह मिथ्यादृष्टि हैं। भाई! तू स्वद्रव्य

को पहिचानकर उसका आश्रय करेगा, तभी मोक्षमार्ग प्रगट होगा। स्वद्रव्य एवं परद्रव्य की भिन्नता को पहिचान क्योंकि स्वद्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

देखो, ऐसी बात श्रीमद् राजचंद्रजी ने बाल्यकाल में सत्रह वर्ष के पहले भी लिखी है। सात वर्ष की आयु में तो उनको जातिस्मरणज्ञान से पूर्वभव का ज्ञान हुआ था, अपने यहाँ राजुल बहिन को भी ढाई वर्ष की उम्र में पूर्वभव में जूनागढ़ में गीता थी, उसका जातिस्मरण ज्ञान हुआ है। इससे भी अधिक चार भव का ज्ञान सोनगढ़ में चम्पाबहिन को है; अतः आत्मा की शक्ति तो अपार है, उसको पहिचानकर उसमें रमण करने से अपूर्व आनंद का अनुभव होता है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने १७ वर्ष की आयु के पहले जो १२५ बोधवचन लिखे हैं, उनमें स्वद्रव्य का आश्रय करने तथा परद्रव्य का आश्रय छोड़ने के दस बोल अति सुंदर हैं।

निश्चयक ाअ ाश्रयक रके० यवहारक ाअ ाश्रयछ ोड़ना—ऐसाज ोस मयसारक ा अभिप्राय है, वही अभिप्राय श्रीमद् राजचंद्रजी ने इन निम्नलिखित दस बोलों में प्रगट किया है। प्रथम तो कहते हैं कि:—

'स्वद्रव्य तथा परद्रव्य को भिन्न-भिन्न देखो'।

इसप्रकार दोनों को भिन्न पहिचानकर क्या करना? इसके लिये दस बोलों में सुंदर स्पष्टीकरण किया है:—

❀ स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र बनो।

❀ स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र बनो।

❀ स्वद्रव्य के धारक शीघ्र बनो।

❀ स्वद्रव्य के रमक शीघ्र बनो।

❀ स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र बनो।

❀ स्वद्रव्य की रक्षा पर लक्ष रखो।

अर्थात् निश्चय का आश्रय करो... शीघ्र करो... बाद में करेंगे, ऐसा विलंब मत करो, किंतु शीघ्रता से स्वद्रव्य को पहिचानकर उसका आश्रय करो, उसकी रक्षा करो, और उसमें

व्यापक बनो; किंतु राग के रक्षक मत बनो, राग में व्यापक मत बनो। पहले कुछ लौकिक कार्य करके फिर बाद में आत्मा की पहिचान कर लेंगे—ऐसा कहनेवाले को आत्मा की रुचि नहीं है, आत्मा की रक्षा करना उसको नहीं आता है। श्रीमद् राजचंद्रजी बाल्यकाल में ही कितना सुंदर कहते थे ? देखो तो सही ! वह कहते हैं कि हे जीवो ! तुम शीघ्रता से स्वद्रव्य के रक्षक बनो... तीव्र जिज्ञासा के द्वारा स्वद्रव्य को पहिचानकर उसके रक्षक बनो, उसमें व्यापक बनो, उसके ग्राहक बनो; इसप्रकार सर्वप्रकार से स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष रखकर उसकी रक्षा करो। इसप्रकार निश्चय का ग्रहण करने के लिये कहा। अब अन्य चार वाक्यों में व्यवहार का तथा पर का आश्रय त्याग करने को कहते हैं—

❀ परद्रव्य की धारकता शीघ्र त्यागो।

❀ परद्रव्य की रमणता शीघ्र त्यागो।

❀ परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्र त्यागो।

❀ परभाव से विरक्त बनो।

विकल्प से-शुभराग से आत्मा को किंचित् लाभ होता है—ऐसी मान्यता का त्याग करो; परद्रव्याश्रित जितने भी भाव हैं, वह सभी आत्मा में धारण करने योग्य नहीं है, उनकी धारकता शीघ्रता से त्याग करने योग्य है। लोग कहते हैं कि व्यवहार का त्याग करने का अभी उपदेश मत दीजिये।—यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार का शीघ्र त्याग करो। जितने भी पराश्रित भाव हैं, वह सभी शीघ्र छोड़ने योग्य हैं।—ऐसा लक्ष में तो लो।

हे जीव ! अंतर में आनंद का सागर तेरा आत्मा कैसा है, इसकी तू खोज कर। स्वद्रव्य का त्याग करके परद्रव्य में रमण करना—यह तुझे शोभा नहीं देता है। इसमें तेरा हित नहीं है। अंतर्मुख होकर स्वद्रव्य में रमण कर... उसी में तेरा हित तथा शोभा है। वही मोक्ष का मार्ग है।

आत्मानुशासन

आत्मा को वैराग्य प्राप्त करानेवाला एवं आराधना का उपदेश देनेवाला शास्त्र आत्मानुशासन है; इसके रचयिता गुणभद्रस्वामी सम्यक्त्व की महिमा पूर्वक उसकी आराधना का उपदेश देते हुए (पृष्ठ ९ में) यह बतलाते हैं कि—

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष—इन सात तत्त्वों का सच्चा निश्चय, आत्मा में इनका सच्चा प्रतिभास होना, यही सम्यग्दर्शन है। पंडित एवं बुद्धिमान मुमुक्षु को मोक्षस्वरूप परम सुखस्थान तक निर्विघ्न पहुँचाने में सर्वप्रथम सोपानरूप है। ज्ञान-चारित्र-तप यह तीनों सम्यक्त्वसहित हों, तभी मोक्ष के लिये सफल हैं, वंदनीय हैं, कार्यरूप हैं; अन्यथा यही (ज्ञान, चारित्र, तप) संसार के कारणरूप ही परिणमित होते रहते हैं। संक्षेप में सम्यक्त्वरहित ज्ञान, वह अज्ञान; सम्यक्त्वरहित चारित्र, वह कषाय एवं सम्यक्त्वरहित तप, वही कायक्लेश है। ज्ञान, चारित्र एवं तप इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली वह सम्यक् श्रद्धा प्रथम आराधना है; शेष तीनों आराधना एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधकभाव से प्रवर्तती हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व की कोई अकथ्य एवं अपूर्व महिमा समझकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनंत-अनंत दुःखरूप ऐसे अनादि संसार की आत्यंतिक निवृत्ति के लिये हे भव्यों! तुम भक्तिपूर्वक अंगीकार करो, प्रतिसमय आराधना करो। चार आराधना में सम्यक्त्व आराधना को प्रथम कहने का कारण क्या? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने से इसका उत्तर १५वीं गाथा द्वारा देते हुए कहते हैं कि—

आत्मा को मंद कषायरूप उपशमभाव, शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान, पाप के त्यागरूप चारित्र एवं अनशनादिरूप तप; इनकी जो महानता है, वह सम्यक्त्व के बिना पाषाण बीज के समान है, वह आत्मार्थरूप फल को देनेवाली नहीं है; परंतु यदि यही सामग्री सम्यक्त्वसहित हो तो महामणि के समान पूजनीय हो जाती है। अर्थात् फलदाता एवं उत्कृष्ट महिमायोग्य हो जाती है।

पाषाण एवं मणि, यह दोनों पत्थर की एक जाति है। अर्थात् जाति अपेक्षा से तो यह दोनों

एक समान हैं, फिर भी शोभा, कांति, आदि की विशेषता को लेकर मणि के थोड़े वजन को भी अत्यंत महत्व दिया जाता है किंतु पाषाण का अधिक वजन उठानेवाले को कष्टरूप ही होता है; इसीप्रकार मिथ्यात्व-क्रिया एवं सम्यक्त्व-क्रिया यह दोनों क्रिया अपेक्षा से तो समान हैं; तथापि अभिप्राय के सत्-असत्पने के तथा वस्तु के ज्ञान-अज्ञानपने के कारण से मिथ्यात्वसहित क्रिया का अत्यंत भार उठाये तो भी वह वास्तविक महिमा को एवं आत्मलाभ को प्राप्त नहीं कर सकता, परंतु सम्यक्त्वसहित अल्प क्रिया भी यथार्थ 'आत्मलाभ दाता' एवं अति महिमायोग्य हो जाती है। इसलिये सम्यक्त्व आराधना प्रधान है, और वह प्रथम कर्तव्य है!

स्वरूप के साधक को धन्य है!

जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पहले कभी नहीं किया ऐसा अनंत सम्यक् पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है और इसप्रकार अपने संपूर्ण स्वरूप का साधक हो गया है, वह जीव किसी भी संयोग में भय, आशा, स्नेह, लज्जा या लालच से अथवा किसी भी कारण से असत् का पोषण नहीं करता; उसके लिये किसी समय मरण जैसी प्रतिकूलता भी आ जाये तो भी वह सत् से च्युत नहीं होता—असत् का आदर नहीं करता। स्वरूप के साधक निःशंक एवं निर्भय होते हैं। सत् स्वरूप की श्रद्धा के बल में एवं सत् के माहात्म्य के समक्ष उसको कोई प्रतिकूलता ही नहीं है। यदि सत् से किंचित् भी चलित हो तो उसको प्रतिकूलता हुई, ऐसा कहा जाता है, किंतु जो प्रतिक्षण सत् में विशेष दृढ़ता धारण कर रहा है, उसको तो अपने असीम पुरुषार्थ के समक्ष जगत में कोई भी प्रतिकूल नहीं है। वह तो परिपूर्ण सत्स्वरूप के साथ अभेद हो गया है—उसको चलित करने के लिये तीन जगत में कोई भी समर्थ नहीं है। अहो! ऐसे स्वरूप के साधकों को धन्य है!

ज्ञानमय आत्मा का चैतन्य-जीवन

[ज्ञानपंचमी (का. शुक्ला ५) के दिन जीवत्वशक्ति के प्रवचन से]

चैतन्यभावरूप जीवत्व को पहिचानने से जीव जगत्पूज्य पद को प्राप्त करता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अपने ज्ञानलक्षण के द्वारा जब अपने आत्मद्रव्य का लक्ष्यरूप से अनुभव करता है, तब उस ज्ञान की अनुभूति में अनंत शक्ति के निर्मल भाव एक साथ परिणमित होते हैं, उन्हें बतलाने के लिये आचार्यदेव ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। सर्वप्रथम जीवत्वशक्ति है—जो चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली है। ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने चैतन्यप्राण को धारण करके जीवित है, ऐसी उसकी जीवत्वशक्ति है। ज्ञान के अनुभव में ऐसा जीवत्व भी साथ में है। ज्ञान के अनुभव में राग साथ में नहीं है, राग से तो ज्ञान भिन्न है; किंतु जीवत्व-सुख-श्रद्धा इत्यादि अनंत शक्तियों का निर्मल परिणमन, वह ज्ञान के साथ ही है। ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव में अनंत गुणों का अनुभव समाविष्ट है।

ज्ञानलक्षण के द्वारा लक्षित ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करनेवाला ज्ञानी जानता है कि मेरा जीवन चैतन्यमय भावप्राण से है, चैतन्य भावों से सदा जीवित रहनेवाला मैं हूँ।—ऐसे जीवनवाला आत्मा ज्ञानलक्षण के द्वारा लक्षित होता है। अनंत शक्ति एवं उसकी निर्मल पर्यायें जिसमें एकसाथ वर्तती हैं, ऐसा आत्मा ज्ञानलक्षण का लक्ष्य है, उसमें रागादि अशुद्धभाव नहीं आते हैं। रागादि भावों को तथा ज्ञानलक्षण को तो अत्यंत भिन्नता है, एवं क्रमरूप तथा अक्रमरूपए ेसेअ नंतं नर्मलभावों(गुण-पर्यायों)के स ाथइ ानलक्षणक ेअ भिन्नताह ै। रागभाव के द्वारा आत्मा लक्षित नहीं हो सकता, एवं ज्ञान द्वारा स्व-आत्मा को लक्षित करते समय उसमें राग नहीं आता; राग वह कहीं आत्मा का जीवन नहीं है; आत्मा का चैतन्य जीवन है, वह ज्ञानलक्षण से लक्षित होता है। पर्याय, वह आत्मा का स्व-अंश है, उसके द्वारा संपूर्ण आत्मा लक्षित होता है। पर्याय की दृष्टि द्रव्य के ऊपर आने से ऐसा आत्मा अनुभव में आता

है।—ऐसे अनुभव में वीतरागता है, आनंद है, प्रभुता है, स्वच्छता है, स्वरूप की रचना है; उसमें आत्मा के साथ एकता है एवं पर से भिन्नतारूप उपेक्षा है; इसप्रकार अपने अनंत निर्मल धर्मों सहित आत्मा परिणमित होता है।

राग हो तो आत्मा का जीवन रहे, शरीर हो तो आत्मा का जीवन रहे – ऐसा नहीं है; ज्ञानमय आत्मा स्वयं स्वभाव से ही चैतन्यभावरूप जीवत्ववाला है। चैतन्यप्राणों के द्वारा सदा रहनेवाला आत्मा स्वयं 'जीवंतस्वामी' है। हे जीवो! ऐसे चैतन्य जीवन से तुम जीवित हो... अन्य जीव भी ऐसे चैतन्य जीवनवाले हैं, ऐसा तुम समझो। बाहर में लौकिक जन 'जीओ और जीने दो' ऐसा कहते हैं, यह तो बाहर की बात है; भाई! शरीर का जीवन, वह कहीं तेरा जीवन नहीं है। शरीर के अस्तित्व से ही जो अपना जीवन मानता है, उसको सच्चा जीवन जीते नहीं आता; तथा अन्य जीवों के जीवन की भी उसको पहिचान नहीं हैं। चैतन्य के अस्तित्ववाला आत्मा का जीवन है। यहाँ आत्मा का अलौकिक जीवन बतलाया है। आत्मा को इन्द्रियादि जड़ प्राणों के साथ भी संबंध नहीं है; एकता—तन्मयता नहीं है; आत्मा को अपने चैतन्यप्राण के साथ सदा मित्रता है—एकता है, तन्मयता है, वही आत्मा का जीवन है। शरीर से तथा राग से मैं जीवित हूँ, ऐसा माननेवाले का सच्चा चैतन्य-जीवन नष्ट होता है। चैतन्यभावरूप जीवत्व है, वह अनंतगुणों सहित आत्मा को जीवित रखता है। ऐसे जीवत्व को पहिचानने से जीव जगत्पूज्य पदवी प्राप्त करता है।

पामर नहीं—किंतु—परमात्मा

जो अपने को पामर, राग-क्रोधादिरूप मानकर प्रभुता (मोक्ष) लेना चाहे, उसको वह नहीं मिल सकती। अपने को पामर मानकर प्रभुता कहाँ से लायेगा?

पामरता से रहित, अर्थात् मिथ्यात्व दोषों से भिन्न, अनंतगुणों के परम स्वभाव से भरा हुआ परमात्मा मैं हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान द्वारा अपना अनुभव करनेवाला जीव दोषों को दूर करके परमात्मा होता है। 'मैं ही सच्चिदानंद परमात्मा हूँ'—ऐसी स्वभाव के पुरुषार्थ की टंकार करने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

अपने स्वाधीन छह कारकों से आत्मा निजभाव का कर्ता है

[श्री पंचास्तिकाय, गाथा ६२ पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन से]

जिन भगवान का उपदेश ऐसा है कि—आत्मा वास्तव में अपने निजभाव को ही करता है, इसलिये वह निजभाव का ही कर्ता है; इसके अतिरिक्त पुद्गल कर्म का वह कर्ता नहीं। इससे विपरीत माने तो वह जिन भगवान का उपदेश नहीं है। जड़कर्म को आत्मा करे, अथवा आत्मा के भव को जड़कर्म करे—ऐसा भगवान ने कहा नहीं। जीव का कर्ताकर्मपना स्वतंत्र अपने में है, अजीव का कर्ताकर्मपना स्वतंत्र अपने में है। ऐसी स्वतंत्रता समझकर भेदज्ञान करना, वह भगवान का मार्ग है।

जीव के विकारभाव में कर्म निमित्त है, कर्म में जीव का विकारभाव निमित्त है, किंतु वास्तव में परस्पर एक-दूसरे के कर्ता नहीं हैं। जीव का विकारभाव कर्म ने नहीं करवाया, और कर्म की अवस्था जीव ने निर्मित नहीं की। अपने-अपने कारकों से दोनों का स्वतंत्र परिणमन है। आत्मा अपने भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं करता।

णमो लोए सव्व आइरियाणं—इसप्रकार पंचपरमेष्ठी के तीसरे पद में जिसका स्थान है, ऐसे आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी का यह कथन है; उन्होंने विदेह में जाकर जीवंतस्वामी सीमंधर तीर्थंकर का साक्षात् उपदेश श्रवण करके भरतक्षेत्र में सद्धर्म की महान वृद्धि की थी, वे भगवान की साक्षी देकर कहते हैं कि—आत्मा स्वयं के निजभावों को ही करता है, पुद्गल को नहीं करता।—ऐसा जिनवचन हे जीवो! तुम समझो।

निश्चय से कर्ताकर्म इत्यादि कारक अभेद होते हैं। जीव के छहकारक जीव में होते हैं। कार्य जीव में तथा उसका कर्ता अजीव में—ऐसा होता नहीं; भिन्न-भिन्न कारक वस्तु में होते नहीं, एक ही वस्तु में कर्ता-कर्म-साधन इत्यादि होते हैं। आत्मा के सम्यक्त्वादि भाव का साधन आत्मा में ही है, इसीप्रकार आत्मा के रागादि विकारी भावों का साधन-कर्ता इत्यादि भी आत्मा में ही है, जड़कर्म का इसमें किंचित् भी कर्तव्य नहीं है। इसीसमय पुद्गल कर्म की

अवस्था का कर्तापना-साधन इत्यादि पुद्गल में ही है, जीव इसका कर्ता नहीं। यह वीतरागी भेदविज्ञान का महान सिद्धांत है।

अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय को आत्मा स्वयं धारण करता है, इसलिये आत्मा स्वयं उसका कर्ता है। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में आत्मा रागादि का भी कर्ता नहीं है, किंतु जब दो द्रव्यों का (जीव-अजीव का) भेदज्ञान करना हो, तब जीव के रागादि भावों का कर्ता जीव ही है—ऐसा जानना चाहिये।

जीव को केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है, उसका साधन भी जीव ही है, क्योंकि केवलज्ञान का साधन बन सके, ऐसी शक्ति जीव में है। ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव, वह जीव की केवलज्ञान पर्याय का साधन—ऐसा वास्तव में नहीं है। इसीप्रकार जीव की पर्याय को साधन बनाकर पुद्गल में ज्ञानावरणीय अवस्था का नाश किया—ऐसा भी नहीं है। जीव में केवलज्ञान की उत्पत्ति, उसी समय कर्म में ज्ञानावरणीय अवस्था का अभाव—ऐसे दोनों समकालीन एक साथ होते हुए भी जीव तथा पुद्गल दोनों अपने-अपने भव के ही कर्ता हैं; अन्य का कर्ता कोई नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक होने पर भी दोनों के बीच कर्ता-कर्मपना नहीं है, तथा कोई दूसरे का साधन नहीं है। वस्तु के कर्ता-कर्म-साधन इत्यादि सभी कारक वस्तु में ही अपने में होते हैं, वस्तु से भिन्न नहीं होते। भाई! जहाँ कार्य होता है, वहाँ ही उसका साधन खोज, कार्य से भिन्न वस्तु में उसका साधन मत खोज। अपने केवलज्ञान का साधन पर में मत खोज; इसीप्रकार तेरे रागादि अपराध का दोष दूसरे के ऊपर मत डाल। स्वयं की शुद्ध अथवा अशुद्ध पर्यायरूप अपने ही छह कारकों से स्वयंमेव परिणमन करता हुआ जीव अन्य किसी कारक की अपेक्षा नहीं रखता।

अहो, वस्तुस्वरूप का ऐसा भेदज्ञान, यह वीतरागता का कारण है। मुमुक्षु जीव ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जिनआज्ञारूप मार्ग को प्राप्त करके, सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट करके इस ज्ञान के द्वारा परभावों का कर्ता-भोक्तापना समाप्त करके, अकेला ज्ञानमार्ग का ही अनुसरण करता है। (अर्थात् शुद्ध ज्ञानचेतनारूप परिणमन करता है) तथा शुद्ध आत्मा की प्राप्तिरूप मोक्षनगर को पाता है।●●

स्वभाव की अपार महिमा

(लेखांक-२)

श्री प्रवचनसार गाथा ३२० (श्री जयसेनाचार्य की टीका) के इन प्रवचनों का एक भाग अंक ३०५ में दिया जा चुका है, और इनका दूसरा भाग यहाँ दिया जा रहा है। ज्ञानस्वभाव का कोई अपूर्व उल्लास लाकर बारंबार उसकी महिमा का गहरा चिंतन करना, यह इस प्रवचन का सार है, यही अनुभव करने की रीति है।

आत्मा का शुद्धस्वभाव कैसा है ? कि जिसका लक्ष करने से सम्यग्ज्ञान हो ? उसकी यह बात है। स्वयंभूरमण समुद्र सभी समुद्रों से बड़ा है, इस स्वयंभूरमण समुद्र से भी महान जिसकी महिमा है, ऐसा ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा है। शरीरादि संयोग तो आत्मा से सर्वथा बाहर हैं-कर्म भी जड़ हैं-आत्मा से भिन्न हैं, राग भी आत्मा का स्वरूप नहीं, एक पर्याय जितना भी संपूर्ण आत्मा नहीं; एक समय में परम ज्ञायकस्वभाव से पूर्ण आत्मा है; यह आत्मा जब स्वसन्मुख होकर शुद्धज्ञानरूप परिणमन करता है, तब वह रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं होता,—ऐसा अकर्तापना वह धर्म और मोक्षमार्ग है।

जीवादि सात तत्त्वों में से भी अपना शुद्ध आत्मा ही वास्तव में उपादेय है। परवस्तु तो कहीं बाहर रह गई, रागादि-परभाव भी कहीं रह गये, निर्मल पर्याय के भेद हैं, वह भी निर्मल पर्यायरूपी धर्म का आश्रय नहीं है; निर्मल पर्याय के भेद भी श्रद्धा में उपादेय नहीं; आश्रय करने के लिये आत्मा को अपना आत्मा ही उपादेय है, अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। प्रथम ऐसे उपादेय तत्त्व का निर्णय तथा पहिचान करना चाहिये; पश्चात् बारंबार अंतर में उसका चिंतवन करने से अनुभव तथा सम्यग्दर्शन होता है। यह तो अपने घर की वस्तु है; अपने अस्तित्व में जो है, वही अपने को समझना है। अपने स्वभाव को भूलकर अभी तक बाह्य में ही दृष्टि की है, वहीं अपना अस्तित्व माना है; इससे विपरीत अपना जो स्वभाव है, उसमें दृष्टि करने की यह बात है।

जो अखंड कारणपरमात्मारूप आत्मा है, वही सम्यग्दृष्टि जीवों को उपादेय है; ऐसा

आत्मस्वभाव सभी जीवों में है, किंतु इसको सम्यग्दृष्टि ही उपादेय करता है, वही इसको पहिचानता है; अज्ञानी इसको पहिचानता नहीं, तो उपादेय कहाँ से करेगा ? इसलिये कहा है कि सम्यग्दृष्टि ही इसको उपादेय करता है। अपने ऐसे शुद्धपरमात्मा के अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि को अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। ऐसे शुद्धद्रव्य को ध्येय बनाने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। इसके अतिरिक्त तीन काल तीन लोक में सम्यग्दर्शनादि नहीं हो सकते। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वभाव के सन्मुख हुआ, तब उसके उत्तम में उत्तम अमृत का चौघड़िया आया है। अंतर में आनंद का अनुभव हो—इसके समान मंगल चौघड़िया अन्य कोई नहीं है।

कोई कहता है कि जो अभी शिक्षण शिविर चल रहा है, यह कौन सी कक्षा की बात है ? तो कहते हैं कि आत्मा की कक्षा की यह बात है। आत्मा सर्व से उत्तम है, इसको जिसे समझना हो, उसके लिये यह बात है। इसको धर्म की प्रथम कक्षा कहो अथवा उससे उच्च कक्षा कहो; किंतु सत्य स्वरूप जिसे समझना है, उसे यह समझना पड़ेगा।

श्रीगुरु ने आत्मा का ऐसा स्वभाव समझाया तथा शिष्य, गुरु के द्वारा आत्मा का ऐसा स्वरूप समझा, तब विनय से कहता है कि अहो ! श्रीगुरु का महान् उपकार हुआ, श्रीगुरु ने ही मुझे ऐसा आत्मा समझाया। इसप्रकार धर्मात्मा सत्पुरुष उपकार का ज्ञान नहीं भूलते—'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति !' फिर भी वह जानते हैं तथा श्रीगुरु ने भी यही समझाया है कि पर की ओर का विकल्प यह आत्मा नहीं है, विकल्प का जो ज्ञान है, इतना भी वास्तविक आत्मा नहीं है।—अंतर्मुख होकर स्वयं ने ऐसा आत्मा समझा, तब श्रीगुरु का उपकार हुआ। —किंतु समझे बिना उपकार किसका ?

आत्मा को नवतत्त्वरूप अनुभव करनेवाले को तो मिथ्यात्वी कहा गया है; नवतत्त्वरूप अनुभव करने से तो विकल्प ही अनुभव में आते हैं, इन विकल्पों के अनुभव में रुक जाना, यह मिथ्यात्व है; शुद्धात्मा के एकत्व का अनुभव होना, यह सम्यग्दर्शन है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति बहुमान इत्यादि के भाव, यह शुभराग है। यह शुभराग मिथ्यात्व नहीं है, किंतु इस शुभराग को जो सच्चा धर्म मानता है अथवा इसको मोक्ष का कारण मानता है, तो यह मिथ्यात्व है। औदयिकभाव कभी मोक्ष का कारण नहीं हो सकते; औपशमिकादि तीनों भाव—जो कि शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं, यह मोक्ष का कारण हैं; तथा जो पारिणामिकस्वभाव है,

यह तो बंध-मोक्ष से रहित है; बंधन होना, मुक्त होना, यह पर्याय में है; त्रिकाल स्वभाव का बंध-मोक्ष नहीं होता।

उपशमादि तीनों भाव मोक्षमार्ग है, किंतु शुद्धात्मा के सन्मुख होकर शुद्धोपयोग हुए बिना वे भाव प्रगट नहीं हो सकते। स्वसन्मुख निज व्यापार को शुद्धोपयोग कहा गया है; उस समय राग अबुद्धिपूर्वक भले ही हो, किंतु शुद्धोपयोगपूर्वक ही सम्यग्दर्शन होता है, मोक्षमार्ग प्रगट होता है। बाद में निर्विकल्प शुद्धोपयोग कभी-कभी होता है, सदा काल नहीं रहता; शुद्धोपयोग से चलित होने पर भी सम्यक्त्वादि शुद्धपरिणति तो अखंड रहती है, यह संवर-निर्जरा-मोक्षक ाक ारणह ै ।अ ात्मास् वयंइ न्द्रियातीतश ुद्धोपयोगस्वभावीह ोनेके क ारण शुद्धोपयोग के द्वारा ही अनुभव में आता है। ऐसा वीतराग का अलौकिक मार्ग है।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'—ऐसा भगवान ने कहा है, उसमें ध्रुव, वह तो परम पारिणामिकभावरूप है, और उत्पाद-व्यय में उदय-उपशमादिक भाव होते हैं। मोक्षमार्ग वह उत्पाद-व्ययरूप है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव में संपूर्ण वस्तु आ गई है। एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव का जो सूक्ष्म स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा स्वरूप अन्य किसी ने देखा नहीं है। सर्वज्ञ का कहा हुआ यथार्थ आत्मस्वरूप पहिचाने बिना सच्चा अनुभव नहीं होता। समयसार में शुद्धात्मा के सन्मुख होनेवाले भावश्रुतज्ञानरूप अनुभूति को आत्मा कहा है; भावश्रुत अर्थात् उपयोग की स्वसन्मुख एकाग्रतारूप वीतरागी पर्याय; उसको अभेदरूप से आत्मा कहा; तथा यहाँ कहते हैं कि द्रव्य तथा पर्याय 'कथंचित् भिन्न' है; प्रयोजन देखो तो इनमें दोनों में कोई विरोध नहीं।

वर्तमान पर्याय एक समय की सत् है; उसका द्रव्य से अभिन्नपना है तथा कथंचित् भिन्नपना है। पर्याय का भेद करना, यह व्यवहार है। त्रिकाली द्रव्य वह निश्चय, पर्याय वह व्यवहार, इस अपेक्षा से द्रव्य तथा पर्याय में कथंचित् भिन्नपना है। आत्मा को भेद करके लक्ष में लेना, वह व्यवहार है, उसके आश्रय से राग है; अभेद आत्मा को लक्ष में लेना, वह निश्चय है, उसके आश्रय से निर्विकल्प सम्यक्त्वादि होते हैं। स्वसन्मुख एकाग्र होकर अभेद हुई एक समय की पर्याय, वह द्रव्य से अभिन्न है, किंतु द्रव्य के समान वह त्रिकाली नहीं है; इसलिये कथंचित् भिन्न है।—इसप्रकार दोनों विवक्षा को समझ लेना चाहिये। द्रव्य तथा पर्याय में किसी

अपेक्षा से भिन्नपना तथा किसी अपेक्षा से अभिन्नपना जिसप्रकार है, वैसा जानने से पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्यसन्मुख दृष्टि जाती है। द्रव्यसन्मुख हुई पर्याय स्वयं शुद्ध है, एक समय का उसका जो अस्तित्व है, वह स्वयं अपने से शुद्ध है; द्रव्य से अभेद है, उस अपेक्षा से इस शुद्धपर्याय को (अलिंगग्रहण के २० बोल में) आत्मा कहा, क्योंकि आत्मा उस समय उस पर्याय में अभेद होकर परिणमित हुआ है, इसलिये उस शुद्धपर्याय को आत्मा कहा। अलिंगग्रहण के बीस अर्थ में आचार्यदेव ने अलौकिक बात कही है।

देखो, यह वीतरागमार्ग! ऐसा आत्मा सर्वज्ञदेव ने देखा है तथा ऐसे आत्मा का अनुभव करके संतों ने मोक्ष प्राप्त किया है। अहो, सम्यग्दर्शन का जो ध्रुवध्येय है, उससे मोक्षमार्ग की पर्याय उससमय अभिन्न है, किंतु वह नित्य द्रव्य के साथ नहीं रहती, इसलिये वह कथंचित् भिन्न है। इसप्रकार कथंचित् भिन्न नहीं हो (और सर्वथा अभिन्न हो) तो पर्याय का दूसरे समय में अभाव होने से द्रव्य का भी नाश हो जायेगा।—किंतु ऐसा नहीं। शुद्ध द्रव्य में एक में अग्रता—ऐसी जो एकाग्रता—उसका नाम शुद्धात्मा की भावना है, वह मोक्षमार्ग है। त्रिकाल स्वभाव है, वह स्वयं भावनारूप नहीं है, वह ध्रुवध्येयरूप है; उसमें एकाग्र होकर पर्याय उसका ध्यान करती है। ऐसा मोक्षमार्ग है। इसमें तो अपने शुद्धद्रव्य तथा शुद्धपर्याय के मध्य ही क्रीड़ा है; बीच में राग की तो बात ही नहीं, वह तो मोक्षमार्ग के बाहर ही रह गया।

भाई, तेरी वीतरागी ज्ञानपर्याय कैसी है तथा वह किस ध्येय से अंतर में प्रगट होता है, उसकी वह बात है। तेरी पर्याय के बाण का निशाना तेरे ध्रुव स्वभाव को बना। उसको ध्येय बनाकर उसमें पर्याय अभेद हुई, वहाँ 'इस शुद्धपर्याय को मैं करूँव', ऐसा भेद रहता नहीं; वहाँ शुद्धपर्याय तो सत् है ही—फिर उसको करूँ ऐसा विकल्प नहीं रहता, ऐसी शुद्धपर्यायरूप परिणमित शुद्ध आत्मा को ही आत्मा कहा गया है। 'शुद्धपर्याय मैं करूँ' ऐसे लक्ष से शुद्धपर्याय नहीं होती किंतु राग होता है, तथा उस राग में तन्मय वर्ते तो मिथ्यात्व होता है। राग से भिन्न तथा स्वभाव से अभिन्न ऐसी शुद्धपरिणति, वह मोक्षमार्ग है।

ध्रुवस्वभाव का सागर तो ज्यों का त्यों लबालब भरा है, उसमें पर्याय की तरंगों में घटा-बढ़ी होती रहती है। चैतन्य-समुद्र आत्मा, वह द्रव्य-अपेक्षा से एकरूप सदा पूर्ण स्थिर है, तथा पर्याय-अपेक्षा से वह तरंगोंरूप होता है, उसमें परिवर्तन होता है। 'यह शुद्धपर्याय है और

द्रव्य का अवलंबन लेती है'—ऐसा भेद वास्तव में नहीं है। पर्याय को अंतर में ले जाऊँ—यह भी विकल्प है, जहाँ ऐसा विकल्प है, वहाँ पर्याय अंतर में ढली हुई नहीं है। जो निर्मल पर्याय है, वह अंतर में झुककर शुद्ध ही हो गई है, इसलिये शुद्धपर्याय स्वयमेव सत् है। जिसप्रकार उस समय द्रव्य सत् है, उसीप्रकार उसके सन्मुख अभेद होनेवाली शुद्धपर्याय भी सत् है। 'अलिंगग्रहण' के अर्थ में इसका सुंदर वर्णन किया गया है। ऐसे सत् आत्मा का सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है। मेंढ़क (अर्थात् मेंढ़क का शरीर नहीं किंतु अंदर का आत्मा) भी अंतर में ध्रुव के साथ पर्याय का मिलन करके ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। 'द्रव्य के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट हुई' ऐसा लक्ष में लेना, यह भी व्यवहार है; किंतु समझाने के लिये उपदेश में भेद आये बिना नहीं रहता। उस भेद के लक्ष से नहीं समझा जा सकता। अभेद के लक्ष से ही सत् समझ में आता है। कार्य तो पर्याय करती है, इसलिये पर्याय से कथन करके समझाया जाता है कि पर्याय को अंतर में ले जाओ... पर्याय में ध्रुव का अवलंबन लो, पर्याय को स्वभावसन्मुख करो।—किंतु अनुभव के समय कहीं ऐसा भेद नहीं है कि यह पर्याय तथा इसका यह विषय। शुद्धनय के विषय के साथ जहाँ पर्याय अभेद हुई, वहाँ उस अभेद आत्मा को ही 'शुद्धनय' कह दिया-(शुद्धनय भूतार्थ है); किंतु कहीं शुद्धनय की पर्याय स्वयं पर्याय के सामने नहीं देखती, वह तो अंतर में अभेद होकर शुद्ध अखंड आत्मा को ही देखती है।—ऐसी पर्याय, वह मोक्ष का कारण है। अभेदता से ऐसा भी कहा जाता है कि ऐसी पर्यायरूप परिणमित आत्मा, वह मोक्ष का कारण है। एक आत्मा ही साधक तथा साध्य, ऐसी दो पर्यायोंरूप स्वयं परिणमित होता है; अन्य कोई भी उस पर्याय का कारण नहीं है। साधक पर्याय को साध्यपर्याय का कारण कहना, यह भी व्यवहार है। पर्याय के भेद का आश्रय साधक को नहीं, अर्थात् व्यवहार का आश्रय नहीं है; इसलिये उसको व्यवहार से मुक्त कहा। अभेद आत्मा के आश्रय से सम्यग्दृष्टि को आनंद के झरने झरते हैं। अनेक गुणों के द्वारा गुरु जैसे-जैसे आत्मा का स्वरूप समझाते हैं, त्यों-त्यों उसको समझकर शिष्य को आनंद आता है, आत्मा के वैभव की अति महिमा आती है। व्यापारियों में कहावत है कि पन्ने फिरें और मोती झरें.... इसीप्रकार धर्मी को शुद्ध स्वभाव की ओर एकाग्रता होने से ज्ञानपर्याय फिरती है और आनंद के मोती झरते हैं। जिसमें आनंद नहीं झरे, वह ज्ञान सच्चा नहीं। आत्मा का ज्ञान साथ में अतीन्द्रिय आनंद लेकर प्रगट होता है।

प्रश्नः—धर्मी को भी बाहर के विकल्प तो आते हैं ?

उत्तरः—विकल्प के समय भी उससे भिन्न ऐसा सच्चा ज्ञान तथा स्वभाव की दृष्टि तो धर्मी को वर्तती ही है, तथा उस श्रद्धा-ज्ञान की शुद्धता के बल से निर्जरा भी होती जाती है; ध्रुव के ध्येय से एकाग्र हुई पर्याय निर्मल होती जाती है, उस पर्याय में अनंत गुणों की शुद्धि का अंश एकसाथ परिणमित होता है। इसप्रकार राग के समय भी धर्मी को अकेला राग ही नहीं है किंतु उस समय निर्मल पर्याय भी कार्य कर रही है, निर्मल पर्याय के कार्य में राग का अभाव है, विकल्प का कार्य उससे भिन्न है। वाह! पर्याय में दो धाराएँ भिन्न पड़ गई हैं। एक विकल्प की राग धारा—वह गई परसन्मुख! तथा एक समय की ओर की निर्मल धारा हुई स्वसन्मुख। जितना अंश स्वाश्रय प्रगट है, उसमें राग का अभाव, इसका नाम भेदज्ञान-परिणति; इसमें राग का किंचित् भी अवलंबन नहीं; अकेले स्वभाव का अवलंबन लेकर वह कार्य करती है। अज्ञानी को अकेला राग दिखलाई देता है, राग से भिन्न ज्ञानधारा उसको दिखलाई नहीं देती; क्योंकि उसको अपने राग का तथा ज्ञान का भेदज्ञान ही नहीं है, इसलिये वह अन्य में भी राग तथा ज्ञानधारा को भिन्न नहीं देख सकता। स्वभाव के अवलंबन से काम करनेवाली ज्ञानधारा राग से रहित शुद्ध है, वह मोक्ष का कारण है। द्रव्य त्रिकाल शुद्ध, पर्याय भी उसके अवलंबन से शुद्ध—ऐसे द्रव्य-पर्याय अभेद हैं। सम्यग्दृष्टि ध्रुव के ध्येय से निर्मल पर्यायरूप परिणमित हुआ, वहाँ राग उसके विषय में नहीं रहा। ध्रुव के अवलंबन से होनेवाली निर्मल पर्याय रागरहित ही कार्य करती है; स्वपरिणति है, वह परपरिणति से रहित ही है। चौथे गुणस्थान से भी जितनी स्वभाव में एकाग्रतारूप स्वपरिणति है, उसमें समस्त रागादि परपरिणति का अत्यंत अभाव है। शुद्धता में अशुद्धता कैसी ? वीतराग मोक्षमार्ग में राग कैसा ? राग में राग है, उस समय भी धर्मी की स्वपरिणति तो राग से रहित ही है। राग होते हुए भी उसको भूतार्थ करके अभूतार्थ स्वभाव के अवलंबन से धर्मी की सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणति राग का अभाव करती हुई मोक्ष की ओर दौड़ रही है।..... जय हो !....

देखो भाई, यह बात समझकर अंतर में अनुभव करने जैसी है। जिनागम का ज्ञान उसे कहा जाता है कि शुद्धात्मा को ध्येय बनाकर उसमें श्रुतज्ञान का लक्ष एकाग्र हो। ऐसे ज्ञान से रहित केवल शास्त्र-भाषा से चर्चा करने जाये तो पार नहीं आ सकता; अंतर में अनुभव कर ले

तो पार आ सकता है। भाषा के द्वारा पार नहीं आ सकता। भाषा ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है, अंतर की ज्ञानचेतना से प्रगट होनेवाला ज्ञान, यही सच्चा ज्ञान है।

भतरक्षेत्र में वर्तमान में ज्ञान कितना ?—ऐसी एक बार चर्चा हुई, तो कहा कि—अंतर की ज्ञानचेतना के द्वारा ज्ञानस्वभाव को जाननेवाले जीव को स्वाश्रय की जितनी ज्ञान-पर्याय हो, उतना ही ज्ञान विद्यमान है; शेष विच्छेद है। भले ही शब्दों में लिखा हुआ रखा है किंतु उसका भाव जाननेवाले जीव नहीं हों तो उस ज्ञान को विद्यमान नहीं कहते। ज्ञान तो आत्मा के आश्रित है, शब्दों के आश्रित नहीं।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयरूप पारिणामिकभाव की दृष्टि से चार गति में उत्पन्न होना तथा मरना—यह जीव को नहीं है। जीव का जो ध्रुव स्वभाव है, वह कहीं उत्पन्न होता अथवा मरता नहीं है; उसको बंध-मोक्ष भी नहीं है। बंध-मोक्ष पर्याय में है, संपूर्ण जीवस्वभाव बंध-मोक्षरूप नहीं है।

स्वानुभूतिरूप आनंद के अभाव में जीव जन्म-मरणादि करके कर्मों को बाँधता है। अपने चिदानंदस्वभाव की स्वानुभूतिरूप परिणाम हों तो उसके शुभाशुभभाव नहीं होते, तथा जन्म-मरण भी नहीं होता। ऐसा शुद्धोपयोगरूप स्वानुभूति का परिणमन चौथे गुणस्थान से प्रारंभ होता है! निजघर में आया हुआ आत्मा, जिसको अनुभूति हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, उस शुद्धोपयोगपरिणति के द्वारा मोक्ष का कर्ता है।—किंतु यह कर्तापना पर्याय में है, द्रव्य से तो जीव शाश्वत है, उसके कर्तापना नहीं। ऐसे शुद्ध जीव को जिसने स्वानुभूति के द्वारा उपादेय समझा, वह शुद्धोपयोग के द्वारा पर्याय में मोक्ष का कर्ता है।

परमात्मप्रकाश ६८वीं गाथा की टीका में कहा गया है कि—यद्यपि शुद्धात्म-अनुभूति के अभाव में आत्मा शुभाशुभ उपयोगरूप परिणमन करता हुआ जीवन-मरण तथा शुभाशुभ कर्म का बंध करता है, तथा शुद्धात्म-अनुभूति प्रगट होने से शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता हुआ मोक्ष का कर्ता है; फिर भी शुद्धपारिणामिक परमभावग्राहक ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के द्वारा वह बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं। ऐसा श्रवण करके शिष्य पूछता है कि प्रभो! शुद्धद्रव्यार्थिक -स्वरूप शुद्ध निश्चय के द्वारा जीव मोक्ष का भी कर्ता नहीं, अर्थात् शुद्धनय से मोक्ष नहीं है; यदि मोक्ष नहीं है तो इसका अनुष्ठान (यत्न) भी वृथा है। इसका

समाधान:—मोक्ष है, वह बंधपूर्वक है; शुद्ध निश्चयनय से जीव को बंधन नहीं, इसलिये बंधन से छूटनेरूप मोक्ष शुद्ध निश्चयनय से नहीं है। अगर शुद्ध निश्चयनय से भी बंध हो तो वह सदा बंधन में ही रहेगा, बंधन का कभी अभाव नहीं होगा। इस अर्थ का दृष्टांत कहते हैं:—एक पुरुष सांकल से बँधा हुआ है, तथा दूसरा एक पुरुष बंधन से रहित है; इसमें प्रथम जो बंधा हुआ है उसको तो 'तुम मुक्त हुए' ऐसा व्यवहार भी है; किंतु दूसरा पुरुष—जो कि बंधन में है ही नहीं उसको, 'तुम मुक्त हुए' ऐसा कहना ठीक नहीं।—उल्टा वह क्रोधित होकर कहेगा कि भाई! मैं बंधा ही कब था?—कि तू मुझे छूटने को कहता है! इसीप्रकार जीव को पर्याय में स्वानुभूति के अभाव में बंधन है, और पर्याय में स्वानुभूति द्वारा बंधन से छूटकर मोक्ष होता है;—इसप्रकार पर्याय में बंध-मोक्ष तथा मोक्ष का प्रयत्न दिखलाई देता है; किंतु शुद्ध निश्चयनय से देखने से जीव को बंधन नहीं, इसलिये बंध से छूटनेरूप मोक्ष भी शुद्धनिश्चयनय में नहीं। इसप्रकार वीतराग निर्विकल्प समाधि में रत जीव को मुक्तजीव के समान अपना शुद्धात्मा उपादेय है, ऐसा भावार्थ है।

उपादेय करना अर्थात् उसमें तन्मय होकर अनुभव करना। मात्र धारणा से अथवा विकल्प से कह दे, उसकी यह बात नहीं है; समयसार की छठी गाथा में भी कहा है कि जब ज्ञायकस्वभाव की परद्रव्य के भावों से भिन्नरूप उपासना की अर्थात् अनुभव में लिया, तब उस आत्मा को 'शुद्ध' कहने में आता है। ज्ञायकस्वभाव को 'शुद्ध' कहा—किंतु किसको? सभी को नहीं; जिसने अंतर की स्वानुभूति के द्वारा उसकी उपासना की, उसी को शुद्ध कहा। द्रव्य-अपेक्षा से शुद्ध है किंतु जब उस द्रव्यस्वभाव का लक्ष किया, तब 'यह शुद्ध है' ऐसा अनुभव में आया, उसी को शुद्धात्मा की उपासना कही गई है, उसी ने स्वानुभूति के द्वारा शुद्धात्मा को उपादेय किया है। गुरु ने कहा अथवा शास्त्र में कहा, इसलिये मान लिया—यह यथार्थ नहीं है; स्वयं अंतर्मुख होकर अपने वेदन में आये बिना 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा किसप्रकार मान लिया? स्वयं स्वानुभूति के द्वारा त्रिकाल स्वभाव को दृष्टि में लेकर शुद्ध का अनुभव किया तब आत्मा को अभेदता से शुद्ध कहा। मात्र शुद्ध की एवं ध्रुव की बात करे अथवा श्रवण करके स्मृति में रख ले, इससे उसको शुद्ध नहीं कहते। जिसने स्वसन्मुख होकर पर्याय में शुद्धता प्रगट की, उस शुद्ध के अनुभव द्वारा 'पूर्ण द्रव्य ऐसा शुद्ध है' इसप्रकार शुद्ध को प्रतीति में लेता है। ऐसी स्वानुभवसहित की प्रतीति, यह सच्ची प्रतीति है। सभी जीव शुद्ध सिद्ध समान हैं—किंतु यह

जाना किसने ?—जो स्वयं शुद्ध-पर्यायरूप परिणमित हुआ, उसने आत्मा को शुद्ध जाना और उसी को वास्तव में 'शुद्ध' कहा जाता है।

शुद्ध द्रव्यस्वभाव है—ऐसा जहाँ दृष्टि में लिया, वहाँ पर्याय में भी शुद्धता प्रगट हुई, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों पर्याय को आत्मारूप कहा है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय की गाथा २२, ३५ तथा ३९ में अमृतचंद्रस्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र तीनों को आत्मारूप कहा है। इसलिये विकल्परूप श्रद्धा इत्यादि को वास्तव में सम्यग्दर्शनादि नहीं कहते; किंतु 'आत्मारूप' अर्थात् आत्मा के सन्मुख होकर प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सच्चे हैं; वही मोक्ष के कारण हैं।

आनंद-प्राप्ति का अवसर

जैनधर्म पाकर अब आनंद-प्राप्ति का यह अवसर है। हे भाई! चार गति में तूने जो अनंत दुःख भोगे हैं, उनसे यदि मुक्त होना चाहता हो, मोक्षसुख का अनुभव करना चाहता हो, तो जिनेश्वरदेव के बतलाये हुए वीतराग-विज्ञान का सेवन कर। दुःख से मुक्त होकर आनंद प्राप्त करने का यह अवसर है।

जीव दुःख को नहीं चाहता, परंतु दुःख के कारणरूप मिथ्याभावों का दिन-रात सेवन करता है—तो वह दुःख से कैसे छूटेगा ?

जीव सुख को चाहता है, किंतु सुख के कारणरूप वीतराग-विज्ञान का एक क्षण भी सेवन नहीं करता—तो उसे सुख कैसे प्राप्त होगा ?

—हे जीव! सुख की प्राप्ति के इस अवसर में तू उत्साह से वीतराग-विज्ञान का सेवन कर!

ज्ञानचेतना

❀ जो कर्म को करती नहीं,

❀ जो कर्मफल को भोगती नहीं,

❀ जो सदा आनंदरस का पान करती है।

धर्मी को ज्ञानचेतना प्रगट हुई है; वह नवीन कर्मों का बंध नहीं करती, उसीप्रकार पूर्व के कर्मों का फल भी नहीं भोगती, वह तो चैतन्यस्वभाव का ही अवलंबन लेती हुई अपने आत्मा को ही संचेतन करती है, आनंदसहित उसी का अनुभव करती है, तथा निष्कर्मरूप परिणमित होती है अर्थात् वह कर्म को नहीं करती-नहीं भोगती। परिणति तो अंतर में चली गई, वहाँ कर्मफल की ओर झुकाव नहीं रहा, अर्थात् उस परिणति में कर्म का कर्तापना अथवा कर्मफल का भोक्तापना नहीं रहा। इसप्रकार कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना दोनों से रहित ज्ञानचेतना होती है। बाहर के ज्ञान से ऐसी ज्ञानचेतना प्रगट नहीं होती; जिसका ज्ञान रागादि से भिन्न होकर अंतर में चेतनस्वभाव में एकाग्र हुआ, उसकी ही ज्ञानचेतना प्रगट हुई है।

राग से भिन्न आत्मा के अनुभवरूप ज्ञानचेतना का अभ्यास नहीं होने के कारण जीवों को यह कठिन लगता है, किंतु यह ऐसा नहीं है कि हो नहीं सकता। राग तथा ज्ञान एकरूप नहीं हुए हैं, इसलिये अज्ञानरूप आस्रव और आत्मा भिन्न हैं, ऐसा पारमार्थिक भेद जानकर उनका भेदज्ञान करने से शुद्ध ज्ञानचेतना का अनुभव हो सकता है; यह अशक्य नहीं, किंतु शक्य है। स्वयं बाह्य में परिणाम लगाता है, उससे विपरीत आत्मा की रुचि करके उसमें परिणाम लगाये तो उसका अनुभव अवश्य होता है।

अज्ञानी को परपरिणति सुगम लगती है तथा स्वपरिणति कठिन लगती है, आत्मा का अनुभव कठिन है—ऐसा कहकर वह आत्मा में उपयोग को लगाने का पुरुषार्थ ही नहीं करता, किंतु परभावों में उत्साह से उपयोग को लगाता है—वह जीव स्वरूप की इच्छा से रहित बहिरात्मा है। भाई, तू आत्मा की रुचि कर, उसमें उपयोग लगा तो वर्तमान में भी आत्मा का

अनुभव हो सकता है। राग के द्वारा ऐसा अनुभव नहीं होता, किंतु ज्ञानचेतना के द्वारा तो आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है; वर्तमान में भी यह हो सकता है। ऐसी ज्ञानचेतना का यह वर्णन है।

'ज्ञानचेतना' तो ज्ञानचेतनारूप रहती है, वह हर्ष-शोकरूप नहीं होती, इसलिये ज्ञानचेतनारूप होनेवाला ज्ञानी कर्मफल को नहीं भोगता। आत्मा का जो संचेतन है उसमें कर्मफल का संचेतन नहीं। अपूर्णता, विकार अथवा संयोग—ऐसा जो कर्मफल, उसका अनुभव शुद्धात्मा के संचेतन में नहीं।

सम्यग्दर्शन-पर्याय की महिमा वह शुद्धात्मा की ही महिमा है। सम्यग्दर्शन पर्याय शुद्धात्मा के आश्रित प्रगट हुई है, इसलिये सम्यग्दर्शन की महिमा में शुद्धात्मद्रव्य की महिमा आ ही गई है।

अहो, सम्यग्दर्शन से भी चारित्र की महिमा अनंतगुनी है, ऐसी चारित्रदशावाले मुनि के दर्शन भी कहाँ?—किंतु ऐसी चारित्रदशा भी शुद्धात्मा में एकाग्रता से प्रगट होती है; अर्थात् जिसने आत्मा को पहिचान लिया, उसने सर्वज्ञ भगवान तथा मुनि को भी पहिचान लिया। अपना आत्मा पूर्ण आनंदरूप विद्यमान है... ऐसे स्व अस्तित्व को स्वीकार करके पर्याय उसमें प्रवेश कर जाने से वहाँ यह पर्याय भी आनंदरूप हो गई। कहीं अन्यत्र आनंद खोजना नहीं रहता।

अंतर्मुख होकर जो चेतना शुद्धात्मा के संचेतन में आई, उस चेतना में परभावों का भोक्तापना कैसे होगा?—नहीं होता; क्योंकि शुद्धात्मा में उन परभावों का अस्तित्व नहीं है, अर्थात् शुद्धात्मा के भोक्तापने में परभावों का (अर्थात् १४८ कर्मप्रकृतियों का) भोक्तापना नहीं है। इसका नाम ज्ञानचेतना है। यह ज्ञानचेतना आनंदरूप है। इसलिये कहते हैं कि ऐसी ज्ञानचेतनारूप होकर सदाकाल आनंदरूप रहो।

ज्ञानचेतना आत्मा के प्रशमरस का पान करनेवाली है, अज्ञानचेतना से तो कषायरस का कटु अनुभव होता था, किंतु अब अंतर की ज्ञानचेतना द्वारा हे ज्ञानीजन! तुम सदाकाल चैतन्य के परम आनंदरूप प्रशमरस का पान करो... भगवान आत्मा के अमृतरस के अनुभव में ही तल्लीन हो जाओ। देखो, आचार्यदेव ने कैसा सुंदर आशीर्वादवचन कहा है। सम्यग्दर्शन होने से ज्ञानचेतना प्रगट हुई, तब से लेकर सदा काल अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही परिणमन करते हुए ज्ञानीजन निजानंद के रस का पान करो... अहो, आनंद का समुद्र अंतर में देखा...

उसका ही अब सदाकाल अनुभव करते रहो! इसप्रकार धर्मी जीवों को प्रेरणा प्रदान की है... इसप्रकार प्रशमरस को पीनेवाली ज्ञानचेतना की प्रशंसा की है। ऐसी ज्ञानचेतना सदाकाल आनंदरूप है। [श्री समयसार-सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचन से]

जिससे मोक्षलाभ हो, वही आत्मधर्म

हे भाई! पुण्य-पाप रहित, सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित निज शुद्धचेतनारूप आत्मा, जिसको जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस आत्मा को तू पुरुषार्थ द्वारा जानकर उसमें निवास कर, तो मोक्षपुरी में तेरा वास्तु (प्रवेश) होगा, और अपूर्व मंगल प्रगट होगा।

आत्मा के जन्म-मरण का अंत किसप्रकार हो और उसे सुख की प्राप्ति कैसे हो? उसकी यह बात है। अपने शुद्ध आत्मा को भूलकर अनादि से बाह्यभाव द्वारा रागादि को ध्येय बनाकर जीव जन्म-मरण में परिभ्रमण करता है; पुण्य-पाप के भावों से रहित ऐसा जो चैतन्यभाव, वह आत्मधर्म है। आत्मा को ध्येय बनाकर ऐसे आत्मिक धर्म से जीव को सुख का अनुभव होता है अर्थात् मोक्ष होता है।

जो अपने आत्मा को इष्ट नहीं करता, उसकी पहिचान नहीं करता, वह पुण्य को तथा उसके फल को इष्ट समझकर उसके राग में ही लगा रहता है, वह जीव मुक्ति को प्राप्त नहीं होता परंतु संसार में ही परिभ्रमण करता है। समस्त राग से भिन्न ऐसी शुद्धचेतना, वह आत्मा का धर्म है। ऐसे आत्मिक धर्म को धारण किये बिना सर्व प्रकार का पुण्य करे तो भी उसका फल संसार

है; वह स्वर्ग मे जाता है किंतु मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा पुण्य की रुचिवाला जीव बाह्य भोग-सामग्री में लीन होकर संसार में ही परिभ्रमण करता है। भाई! राग के फल में सुख कहाँ से हो? राग कहीं तेरा आत्मिक धर्म नहीं। राग तो परभाव है। जिनशासन में शुभराग को भी आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं कहा, उसको पुण्यरूपी स्थूलधर्म कहा है और उसका फल संसार कहा है। मोक्ष तो आत्मा के शुद्ध निर्मोह वीतरागपरिणाम से ही होता है और वह परिणाम आत्मा के त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से प्राप्त किया जाता है, इसलिये वह आत्मा का धर्म है। पुण्य कहीं आत्मा के स्वभाव के आश्रय से नहीं होता, वह तो पराश्रित विभाव है।

शांतमूर्ति चेतनस्वभाव के ज्ञान बिना जीव संसार में अन्य सब कर चुका है; त्यागी भी हुआ, शुभक्रियायें भी कीं, परंतु उनसे पार विकल्पातीत आनंदस्वरूप निधान अपने में भरा है—ऐस लक्ष्य में नहीं लिया। अब हे भाई! वीतराग देव-गुरु-शास्त्र कहते हैं कि वह बात लक्ष में लेकर स्वानुभवगम्य कर... अंतर में तुझे आनंदरस का स्वाद आयेगा। आत्मा में ज्ञानदीपक प्रगट कर, ऐसे निर्विकल्प आनंदरस का भोजन लेना—वह वास्तविक दिव्यतादर्शक दीपावली है। आचार्यदेव मोक्ष को साधने के लिये आत्मा को जानने का उपदेश भावपाहुड़ में देते हैं कि:—

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लभेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण॥

हे भव्य जीव! पुण्य-पाप रहित शुद्धचेतनारूप ऐसे उस आत्मा का तुम उद्यमपूर्वक अनुभव करो और त्रिविध से उसकी श्रद्धा करो कि जिससे तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी।

आत्मा को भूलकर बाहर का अन्य ज्ञान, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं, मोक्ष के लिये तो हे जीव! तू सर्वप्रकार से उद्यम करके आत्मा को जान और उसकी श्रद्धा कर!

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लावो,
तोड़ सकल जग-दंदफंद निज आतम ध्यावो॥

आत्मा का स्वभाव रागरूप नहीं, इसलिये राग से उसकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मा का स्वभाव मोक्ष है, (मोक्ष कहा निजशुद्धता) उसकी प्राप्ति आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव द्वारा ही होती है।

देखो, यह मोक्ष को प्राप्त करने की विधि! मोक्ष अर्थात् आत्मा का स्वभावधर्म; जिस भाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही आत्मिक धर्म; पुण्य तथा पाप ये दोनों तो संसार के ही कारण हैं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! ऐसे आत्मा को उद्यमपूर्वक जानकर उसमें निवास कर तो मोक्षपुरी में ही तेरा वास्तु (प्रवेश) होगा और अपूर्व मंगल प्रगट होगा।

निजगुणसम्पन्न आत्मवस्तु

'अस्तित्व' से आत्मवस्तु सदैव स्वाधीनरूप नित्य है।

'वस्तुत्व' से स्वयं अपने गुण-पर्यायों से परिपूर्ण है।

'द्रव्यत्व' से परिणमनशील वर्तन करती हुई निरंतर स्वकार्य करती रहती है।

'प्रमेयत्व' से स्वयं अपने निज-ज्ञान में ज्ञात होती है।

'अगुरुलघुत्व' से निजस्वरूप में नित्य रहकर अन्य के साथ एकमेक नहीं होती।

'प्रदेशत्व' से असंख्य स्वप्रदेशरूप निजधाम में रहती है।

'ज्ञान' गुण से आत्मवस्तु स्वयंप्रसिद्ध, स्वसंवेदनरूप है।

—ऐसी निजगुणसंपन्न स्ववस्तु के चिंतवन में चित्त को एकाग्र करके हे आत्मा! तू स्वयं स्वसंवेदनरूप हो।

सन् १९७१ की जनगणना के समय 'धर्म' के खाना नं० १० में गौत्र, जाति आदि ना लिखाकर केवल 'जैन' ही लिखाकर सही संख्या इकट्ठी करने में सरकार की मदद करें।

महावीर का अनेकांतिक अहिंसा दर्शन

लेखक - श्री 'युगल' एम.ए.

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल 'जीओ और जीने दो' की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया है। इससे जन-जीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है, वरन उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त-सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिये अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने के अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है।

अहिंसा जीवन का शोधक तत्त्व है। अहिंसा का सीधा संबंध आत्मा से है। वह आत्मा का ही निर्विकार कर्म है। आत्मा ही उसका साधकतम करण है। आत्मा ही उसकी सुरम्य जन्म-स्थली है और अहिंसा का संपूर्ण क्रिया-कलाप आत्मा के लिये ही होता है, उसके फल का उपभोक्ता भी आत्मा ही है। वह आत्मा के अंतरंग बंधनों को तोड़कर जीवन के विकास का पथ प्रशस्त करती है। वास्तव में बहिर्जगत से उसका कोई तात्त्विक संबंध नहीं।

इस अहिंसा के साथ महावीर का नाम छाया और शरीर की भाँति जुड़ा हुआ है। वास्तव में महावीर ने मौलिक वस्तुस्वरूप के आधार पर अहिंसा का जो अनेकांतिक स्वरूप जगत के समक्ष रखा, जगत को उनकी वह देन अद्‌भुत एवं अद्वितीय है। महावीर का अहिंसा दर्शन एक-सर्वांगीण जीवन-दर्शन है। वह जीवन को जहाँ से उठाता है, उसे विकास के चरम बिन्दु पर ले जाकर रख देता है।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल 'जीओ और जीने दो' की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जनजीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है, वरन उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिये अहिंसा की कोई उपयोगिता

नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने के अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है। कोई प्राणी बच गया है, उसका संपूर्ण श्रेय अहंकार के शिखर पर चढ़ा आज का अहिंसक अपने ऊपर लेकर पुण्य-संचय से मन में परम संतुष्ट होता हुआा स्वर्ग के कृत्रिम सुखों की कल्पनाओं से मन ही मुन पुलकित होता रहता है। दूसरे प्राणी को बचाने के विफल प्रयास मूलक अहंकार गर्भित अहिंसा का यह रूप महावीर के दर्शन में हिंसा ही घोषित किया गया है।

अहिंसा के मूलाधार आत्मा का यदि हम भारतीय दर्शनों की कसौटी पर परीक्षण करे तो हमें ज्ञात होगा कि लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने एक स्वर से आत्मा की अमरता को स्वीकार किया है। वहाँ हमें सुनने को मिलता है कि आत्मा अजर है, अमर है, वह शस्त्रों से भी नहीं छिदता, अग्नि में नहीं जलता इत्यादि। एक ओर तो हमें आत्मा की अमरता के ये गीत सुनाई देते हैं और दूसरी ओर हम 'जीओ और जीने दो' का राग भी अलापते चलते हैं। यदि आत्मा स्वभाव से अमर है तो फिर एक प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी के वध और रक्षा की बात में कितनी सच्चाई है ? जो कभी मरता ही नहीं, उसके वध और रक्षा की कल्पना भी कैसी ! हाँ, आत्मा अमर होते हुये भी उसके वध और रक्षा का अज्ञान वस्तुस्थिति के अविवेक से उत्पन्न तो हो सकता है किंतु इस अज्ञान के साथ आत्मा के वध और रक्षा जैसी अघट घटनाएँ भी घटने लगें, यह असंभव है। अथवा नीचे की भूमिका में ज्ञानी को भी ऐसा राग आता है किंतु आत्मा के वध और रक्षा की व्यवहारनयात्मक शैली में निहित अपेक्षाओं को समझे बिना आत्मा के वध और रक्षा का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाए तो आत्मा की अमरता का सिद्धांत काल्पनिक ही रह जायेगा।

महावीर ने अहिंसा का जो भव्य स्वरूप विश्व को दिया, वह अनेकांत से अनुशासित होने के कारण अपने में इतना परिपूर्ण है कि दूसरे जीव को बचानेरूप स्थूल लौकिक अहिंसा तो उसमें सहज ही पालित होती चलती है। आत्मा की अमरता का सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर 'क्योंकि जीव मरता ही नहीं है' इस सिद्धांत से छल ग्रहण करके हिंसावृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिये वहाँ रंच भी अवकाश नहीं; किंतु क्योंकि जीव मरता ही नहीं है; अत: जीव को मारने के श्रम की विफलता ज्ञात हो जाने पर वध और रक्षामूलक अहंकार तो समाप्त हो ही जाता है, साथ ही शनै: शनै: हिंसावृत्तियों का भी शमन होने लगता है। फलस्वरूप आत्मपौरुष का उपयोग एवं प्रयोग केवल आत्म-विकास के लिये ही होने लगता है।

महावीर के अनेकांतिक शासन में चेतन एवं जड़ सभी की अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता है। सभी पदार्थ एक-दूसरे से अत्यंत पृथक् रहकर अपने गर्भ में विद्यमान अनंत शक्तिओं के बल पर ही अपना जीवन संचालित करते रहते हैं। प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ की काया परस्पर विरुद्ध अनंत धर्मों से निर्मित है। ये परस्पर विरुद्ध धर्म उस वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा करते हैं। समयसार परमागम की तीसरी गाथा की टीका करते हुये आचार्य श्री अमृतचंद्र ने वस्तु के इस अनेकांतिक स्वभाव की महिमा के गीत इसप्रकार गाये हैं—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई॥

'एकत्वनिश्चय को प्राप्त समय लोक में सर्वत्र सुंदर है। इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद-विरोध करनेवाली है।'

टीका.... लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं, वे सब निश्चय से एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुंदरता को प्राप्त होते हैं।... वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनंत धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं—स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यंत निकट एकक्षेत्रावगाह रूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते; पररूप परिणमन न करने से अपनी अनंत व्यक्ति नष्ट नहीं होती, इसलिये जो टंकोत्कीर्ण की भाँति स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे विश्व का सदा उपकार करते हैं; टिकाये रखते हैं। इसप्रकार सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने से जीव नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति आती है।

वस्तु के अनेकांतिक स्वरूप में परस्पर विरुद्ध दो पहलू स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। एक उसका वह पहलू है जिसके कारण जो कुछ उसका अपना है, उसी में रहता है। वह पदार्थ अपने द्रव्य (त्रैकालिकता) अपने क्षेत्र (प्रदेश) अपने काल (क्षणिकपर्याय) और अपने भाव (अनंत शक्तियाँ) की चतुः सीमा में ही विद्यमान रहता है। इसे वस्तु का अस्ति धर्म कहते हैं। इसके विरुद्ध उसका एक दूसरा पहलू है, जिसके कारण उसकी चतुः सीमा (चतुष्ट) में उससे भिन्न संपूर्ण विश्व का प्रवेश निषिद्ध है। इसे पदार्थ का नास्ति धर्म कहते हैं। इसप्रकार पदार्थ

स्वयं ही अनेकांत है। इन्हीं विशेषताओं के कारण चेतन सदा चेतन रहता है और जड़ सदा जड़। जड़ सदा अपना काम करता है और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन को लाभ-हानि नहीं करता। चेतन कभी जड़ के कार्य का कर्ता तथा कारण नहीं बनता और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन के कार्य का कर्ता तथा कारण नहीं बनता। चेतन तथा जड़ सभी पदार्थ अपने में विद्यमान अनित्य धर्म के कारण सदा स्वत: प्रतिक्षण अपनी अवस्थाओं में परिवर्तन किया करते हैं। यही वस्तु की मर्यादा है। अपनी इस मर्यादा में विद्यमान पदार्थ को अपने अनादि-अनंत जीवन में अन्य अनंत पदार्थों का संयोग भी होता है और वियोग भी, किंतु वह समस्त संयोग-वियोग वस्तु की सीमा के बाहर ही होता है। वस्तु में प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाले कार्यों में अनंत पदार्थ निमित्त भी बनते हैं किंतु वे भी वस्तु की सीमा के बाहर ही रहते हैं। वस्तु के कार्य-क्षेत्र में उनका प्रवेश नहीं होता। यह जैनदर्शन में अनेकांत की स्थिति है, जिसके कारण सारा अनंत विश्व अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहता हुआ अनंत सौंदर्य को प्राप्त होता है।

पदार्थ एक ही समय में स्व-अपेक्षा अस्तिरूप ही तथा पर-अपेक्षा नास्तिरूप ही है। इसप्रकार वह अस्तिरूप भी है और अपने में पर के अभाव के कारण वही नास्तिरूप भी है। वह द्रव्य-अपेक्षा नित्य ही है। क्योंकि पदार्थ के संबंध में 'यह वही है जो पहले देखा था' इसप्रकार की प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रतीति उसकी नित्यता को घोषित करती है। तथा पदार्थ पर्याय-अपेक्षा अनित्य ही है। क्योंकि उसका रूपान्तर प्रतिसमय भासित होता है। इसप्रकार वह एक ही समय में नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्य-अपेक्षा भी नित्य हो और पर्याय-अपेक्षा भी नित्य हो, अथवा वह द्रव्य-अपेक्षा नित्य भी हो और अनित्य भी, ऐसा नहीं है। एक जीव स्व-अपेक्षा से भी जीव हो और अन्य जीव तथा जड़ की अपेक्षा भी जीव हो अथवा वह जीव भी हो और अजीव भी हो अथवा वह स्वकार्य भी करता हो और परकार्य भी। अनेकांत में 'भी' का ऐसा गलत प्रयोग नहीं होता। उसमें वस्तुस्वभाव के विरुद्ध कोई कल्पना नहीं होती। यदि कर्ता कोई एक पदार्थ हो, उसका कार्य किसी दूसरे पदार्थ में हो और कारण कोई तीसरा पदार्थ हो तो तीनों में से कार्य के फल का उपभोग कौन करेगा? यह बड़ी दुविधा उत्पन्न हो जायेगी। अत: एक पदार्थ अभिन्न भाव से स्व का कर्ता, कर्म, करण है, ऐसा अस्ति-मूलक भाव तथा वह पर का कर्ता, कर्म, करण नहीं है, ऐसा नास्तिमूलक भाव अनेकांत है। कर्ता, कर्म, करण, अभिन्न एक ही वस्तु में होते हैं। ऐसा अबाधित नियम है। अत: भिन्न पदार्थों में यदि परस्पर कर्ता, कर्म, करणत्व की

संभावना की जाये तो उनके ऐक्य का प्रसंग उपस्थित होगा और यही एकांत है। क्योंकि दो पदार्थ कभी एक-दूसरे में अपनी सत्ता का विलय करके एक होते नहीं हैं। यदि ऐसा होने लगे तो विश्व का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। अत: ऐसे एकांत की कल्पना सर्वथा मिथ्या है। पदार्थों के परस्पर आत्यंतिक पृथक्त्व के कारण जड़-चेतन, चेतन-चेतन, तथा जड़-जड़ में कभी कर्ता-कर्म तथा कारण-कार्य भाव बनता ही नहीं है। इसप्रकार एक ही पदार्थ में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत-अतत आदि परस्पर विरुद्ध अनंत सापेक्ष धर्म विद्यमान रहते हैं, जिन्हें अनेकांत कहते हैं, और यह अनंकोत वस्तुस्वभाव है। पदार्थ में अनंत शक्ति की विद्यमानता अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं किंतु जो वस्तु के वस्तुत्व के नियामक हैं, उन परस्पर विरुद्ध अनंत सापेक्ष धर्मों की एक ही वस्तु में विद्यमानता केवल जैनदर्शन ही स्वीकार करता है। इसप्रकार जैनदर्शन का संपूर्ण तत्त्वज्ञान-प्रासाद अनेकांत की ठोस आधारशिला पर खड़ा हुआ है।

अनेकांत की इस कसौटी पर यदि हम हिंसा-अहिंसा की परीक्षा करके देखें तो हमें विदित होगा, जब एक जीव संपूर्ण जड़-चेतन विश्व से भिन्न अपने स्वरूप में ही सदा प्रतिष्ठित रहता है और नित्य ध्रुव रहकर प्रतिक्षण अपना विकारी अथवा निर्विकारी उत्पाद-व्यय स्वयं ही निरपेक्ष भाव से किया करता है तो एक जीव हिंसक और दूसरा हिंस्य—इसप्रकार का द्वैत ही उत्पन्न नहीं होता। जीव का प्रतिसमय का उत्पाद-व्यय ही उसका जीवन-मरण है, जो वस्तुस्वभाव है। इस उत्पाद-व्यय की सरिता में जीव प्रति समय उन्मग्न-निमग्न हुआ करता है। यही उसका व्यापार है। तब फिर कौन किस समय किसकी हिंसा अथवा रक्षा करे ? यदि एक जीव के जीवन और मरण में किसी अन्य जड़ अथवा चेतन पदार्थ का अधिकार स्वीकार कर लिया जाये तो फिर किसी जीव के वध के सहस्र प्रयत्न करने पर भी उसका वध शक्य क्यों नहीं होता और किसी जीव की रक्षा के लक्ष-लक्ष प्रयत्न भी विफल क्यों हो जाते हैं ?

इसप्रकार एक जीव तथा अन्य जड़-चेतन पदार्थों में परस्पर वध्य-घातक भाव असिद्ध होने पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि लोक में जीव को मारने और बचाने का जो अनादि व्यवहार प्रचलित है, क्या वह सर्वथा असत् है ? यदि अनेकांत के प्रकाश में वस्तुस्थिति का अवलोकन किया जाये तो यह निर्विवाद है कि वस्तुस्थिति का इस लोक-व्यवहार में कोई संबंध नहीं है। क्योंकि कोई जीव अपने चतुष्ट की चतु: सीमा से बाहर कभी निकलता ही नहीं

है। जिसे हम व्यवहार में हिंसक कहते हैं, वह भी सदा अपनी सीमा में विद्यमान है और जिसे हम हिंस्य कहते हैं, वह भी अपनी सीमा कभी छोड़ता नहीं है। दोनों स्व-स्व कार्य निरत हैं। जिसे हम हिंसक कहते हैं, वह हिंसा के विकल्परूप अपने विकारी कृत्य में निरत है तथा जिसे हम हिंस्य कहते हैं, वह अपनी अवस्था के वर्तमान आकार का परित्याग करके दूसरे आकार को प्राप्त करने जा रहा है। अत: वध और रक्षा का व्यवहार वास्तविक नहीं वरन् औपचारिक ही है। 'भगवान की कृपा से मुक्ति मिली' तथा 'गुरु के प्रसाद से ज्ञान मिला' आदि निमित्त की मुख्यता से अगणित उपचार होते हैं। किंतु वस्तुस्थिति इस कथन के अनुकूल नहीं होती। भगवान की वीतरागता में कृपा के लिये कोई अवकाश नहीं है। हाँ! प्रत्येक प्राणी उनकी वीतरागता से अपनी पात्रता के अनुकूल प्रेरणा ले सकता है, यही उनका निमित्तत्व है और इसी को व्यवहार में उनकी कृपा कहते हैं। इसीप्रकार गुरु के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को सम्पादित किये बिना गुरु का प्रसाद भी कुछ नहीं है। इसप्रकार के कथन में विद्यमान, अनुकूल निमित्त को कार्य के कृतित्व का श्रेय देते हुये भी उसी के साथ परिणत उपादान को ही कार्य के कृतित्व का संपूर्ण श्रेय है। क्योंकि कार्य उपादान में उसकी स्वशक्ति से ही निष्पन्न होता है।

वस्तु की इस अंतरंग (उपादान) एवं बहिरंग (संयोगी) स्थिति को जानने एवं प्रस्तुत करने की दो पद्धतियाँ लोक एवं आगम सम्मत हैं। जो वस्तु की अंतरंग स्थिति को निरपेक्षरूप में प्रस्तुत करती है, उस शैली को निश्चयनय कहते हैं और जो वस्तु के बाह्य वातावरण के अध्ययन द्वारा वस्तु का प्रतिपादन करती है, उस शैली को व्यवहारनय कहते हैं। इन दोनों नयों के प्रकाश में यदि हम हिंसा-अहिंसा की समीक्षा करें तो 'एक जीव दूसरे जीव का वध अथवा रक्षा करता है' इस निमित्त सापेक्ष कथन में निश्चयनय का यह स्वरूप तो अविकल ही रहता है कि कोई जीव किसी के प्राणों का अपहरण अथवा रक्षा नहीं कर सकता। किंतु जब कोई प्राणी आयु परिवर्तन के क्षण को प्राप्त होकर स्वयं ही अन्य गति के प्रति गमन करता है, तब सहज विद्यमान अनुकूल चतुर्दिक वातावरण पर उसके मरण के कृतित्व का उपचार किया जाता है, यह व्यवहारनय की औपचारिक शैली है, जो वस्तु की बहिरंग स्थिति के द्वारा वस्तु को प्रस्तुत करती है। इसप्रकार लोक में वध एवं रक्षा के रूप में हिंसा-अहिंसा का जो व्यवहार प्रचलित है, वह वास्तविक नहीं वरन् औपचारिक ही है।

[शेष अगले अंक में]

भावशुद्धिवाले जीव आराधना को प्राप्त करते हैं

अहो ! आत्मा की आराधना का मार्ग राग से भिन्न है... वीतराग संतों का मार्ग जगत से सर्वथा भिन्न है। सुखमय आराधना भावशुद्धि के द्वारा प्राप्त होती है, राग के द्वारा वह प्राप्त नहीं होती है। जगत से दूर, जगत से भिन्न, अंदर स्वभाव में प्रवेश करे, तब वीतरागी संतों के मार्ग की आराधना प्राप्त हो सकती है।

आत्मा के आनंद का जिसको अनुभव है, वह तो बारंबार अंदर उस आनंद का चिंतवन करता है; किंतु जिसको आत्मा के आनंद का ज्ञान नहीं, विषयों में ही जिसने सुख मान लिया है, वह तो उन विषयों का ही चिंतवन करता है, विषयों के चिंतवन में एक क्षण भी उसको शांति नहीं है। अरे, भाई ! यह शरीर तो जड़-मिट्टी-हड्डी-चमड़े का पिंड है, इसमें कहाँ तेरा सुख है ? आत्मा तो आनंद का पर्वत है, उसका अनुभव कर।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! आत्मा के शुद्धभावसहित मुनिजन चार आराधना प्राप्त करके मोक्ष के परम सुख का अनुभव करते हैं; किंतु जो जीव बाह्य से मुनि होकर भी अंदर में सम्यक्त्वादि भावशुद्धि से रहित है, वह तो दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता हुआ दु:खी ही होता है—

भाव सहिदो य मुणिणो पावइ आराहणा चउक्कं च।
भाव रहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीह संसारे॥९०॥

शुद्धभावयुक्त मुनि चार प्रकार की आराधना को प्राप्त करते हैं। भावरहित जो मुनि है, वह संसार में ही भ्रमण करता है।

आत्मा का भान करके उसकी आराधना करनेवाले मुनिजन तो मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं, किंतु जहाँ आत्मा का भान नहीं, वहाँ एक ही आराधना नहीं होती है, वह तो संसार में भ्रमण करता है। सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ हो तो भी वह मोक्षमार्ग का आराधक है; एवं मिथ्यादृष्टि जीव मुनि भी हो गया हो तो भी वह संसारी ही है, वह मोक्षमार्गी नहीं है।

प्रश्नः—उसको शुभभाव तो होते हैं ?

उत्तरः—शुभभाव तो होते हैं किंतु भावशुद्धि नहीं है; शुभभाव को कहीं भावशुद्धि नहीं कहा जाता है, एवं शुभभाव कहीं मोक्ष का साधन नहीं है। राग से पार शुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप निश्चय सम्यक्त्वादि भाव ही भावशुद्धि है, एवं ऐसी भावशुद्धि हो, वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ऐसी चतुर्विध-आराधना होती है; इसके फल में अनंत चतुष्टय सहित अरिहंतपद तथा सिद्धपद प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन के बिना तो ज्ञान-चारित्र-तप इनमें से एक भी आराधना नहीं हो सकती। मिथ्यात्व का फल संसार, एवं सम्यक्त्व का फल मोक्ष है। अज्ञानीजन केवल शुभराग को भावशुद्धि मान लेते हैं एवं उससे आराधना होना मान लेते हैं; किंतु भाई! अनंत बार शुभराग करते हुए भी आत्मा की आराधना तुझे किंचित् भी नहीं हुई, संसारभ्रमण ही रहा। क्योंकि शुभ अथवा अशुभ दोनों भाव अशुद्ध हैं, परभाव हैं, संसार का कारण हैं। सम्यक्त्वादि शुद्धभाव तो स्वभाव के आश्रित हैं, राग से रहित हैं, एवं मोक्ष का कारण हैं। आत्मा का शुद्धभाव किसको कहना, अभी तो इसका भी ज्ञान नहीं, तो उसको आराधना कैसी ? उसको तो केवल दुःख ही है। इसलिये कहा है कि

मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

आत्मा के अनुभव बिना शुभराग से मुनिव्रत का पालन करते हुए किंचित् भी सुख प्राप्त नहीं किया—इसका अर्थ यह हुआ कि जीव ने शुभराग करके भी दुःख पाया, सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा की आराधना नहीं, एवं आत्मा की आराधना बिना सुख नहीं; तो सुख किसप्रकार प्राप्त हो ? कि आत्मा सुख से भरा हुआ विशाल पर्वत है, संपूर्ण सुख का ही पर्वत है; उस सुखस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करने से आत्मा स्वयं सुखरूप ही परिणमित हो जाता है।—ऐसी सुखमय आराधना भावशुद्धि के द्वारा प्राप्त होती है, राग के द्वारा वह प्राप्त नहीं की जा सकती। अहो! आत्मा की आराधना का मार्ग राग से भिन्न है। वीतरागी संतों का मार्ग जगत से अति दूर है अर्थात् जगत से भिन्न अंदर स्वभाव में प्रवेश करे, तब वीतरागी संतों का मार्ग प्राप्त होता है। जिसको आनंदस्वरूप आत्मा की साधना करना हो, उसको बाहर के पुण्य-पाप के भावों का रस नहीं रहता है। राग का रस भी रहे एवं आत्मा के आनंद की भी साधना हो—इसप्रकार एक साथ दो कार्य नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा के आनंद की जाति राग से सर्वथा

भिन्न है। शुभराग, वह कहीं आराधना नहीं है। जो राग करनेयोग्य मानता है, उसे राग का प्रेम है, वहाँ चैतन्य की आराधना नहीं है; राग का फल तो संसार ही है। इसप्रकार समझकर हे जीव! तू राग एवं आत्मा की भिन्नता के अनुभव द्वारा भावशुद्धि प्रगट कर; भावशुद्धि ही आराधना है, वही मोक्ष का कारण है; उसके द्वारा कल्याण की परंपरा प्राप्त होकर मोक्षसुख प्राप्त होता है।

भावसाधु पा रहे कल्याण-माला सुख को,
अरु द्रव्यसाधु कुनर-तिर्यंच-देवगति के दुःख को ॥१००॥

सामान्यतः लौकिक जनों को नरक के दुःखों में ही दुःख लगता है, किंतु हे भाई, आतमा की शुद्धि के बिना संसार की चारों गतियों में (देवलोक में भी) केवल दुःख ही है; आत्मा के अशुद्धभाव, यही दुःख है; मोहरहित शुद्धभाव के द्वारा ही इस दुःख से जीव मुक्त होकर सुख को प्राप्त करता है।

जहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं, आत्मा के शुद्धभाव कौन से एवं इनसे विरुद्ध परभाव कौन से? ज्ञान में राग को सम्मिलित करके अशुद्ध भाव का ही अज्ञानी अनुभव करता है, यही दुःख है;—फिर भले ही देव हो अथवा मनुष्य हो, अशुद्ध भाव से वह दुःखी ही है। नरक में भी जीव अगर आत्मा को पहिचानकर शुद्धभाव करता है तो उसको चतुर्थ गुणस्थान के योग्य अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो अथवा भावशुद्धि कहो, वह मोक्षसुख का कारण है। चारों आराधना भावशुद्धि में समाविष्ट हैं। इसलिये हे जीव! प्रथम तू भावों को पहिचान... प्रयत्न के द्वारा आत्मा को पहिचानकर भावशुद्धि प्रगट कर। आत्मा की ऐसी आराधना के द्वारा मोक्षसुख प्राप्त होगा। (भावप्राभृत, गाथा ९०-१००)

आराधना

अनादि मिथ्यादृष्टि भद्रणादि राजपुत्र उसी भव में त्रस पर्याय को प्राप्त होकर जिनेन्द्रदेव के पाद-कमल के निकट धर्म-श्रवण करके सम्यग्दर्शन तथा संयम को प्राप्त करके अल्पकाल में रत्नत्रय की पूर्णता करके सिद्ध हुए... इसलिये आराधना ही सार है।

(भगवती आराधना, गाथा १७)

नहीं कार्य-कारण अन्य का... ऐसा ही आत्मस्वभाव है

आत्मा में एक ज्ञानशक्ति; ऐसी अनंत शक्तियाँ; उनका परिणमन संसारी जीव को अनादि से सम्यक् नहीं था; वह सम्यक् परिणमन कैसे हो ? उसका यह वर्णन है।

प्रथम तो आत्मोन्मुख होकर आत्मा के स्वभाव को लक्ष में ले, तभी ज्ञान का परिणमन सम्यक् होता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी के लक्ष से अथवा विकल्प से ज्ञान का परिणमन सम्यक् नहीं हो सकता; इसलिये ज्ञान के परिणमन में अन्य कोई कारण नहीं है।

—ऐसा ज्ञान किसप्रकार होता है ?

उपदेश में ऐसा कहा जाता है कि सत्-समागम द्वारा श्रवण-मनन से ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है—किंतु यह तो ज्ञान करते समय बीच में ऐसा व्यवहार आ जाता है, उसे बतलाया है। श्रवण के शब्दों के लक्ष से, अथवा तत्संबंधी विकल्प के लक्ष से ज्ञान नहीं होता, ज्ञान तो इन दोनों से पार, केवल स्वद्रव्य का ही अवलंबन लेनेवाला है। अभव्य जीव अन्य कारण के द्वारा ज्ञान होना मानता है, उसको ज्ञानपरिणति कभी नहीं होती; उसीप्रकार किसी भी जीव को पर की ओर के लक्षवाला ज्ञान अथवा विकल्प, वह आत्मा के ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। ज्ञान स्वयं अन्य कारणों से निरपेक्ष है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग, वह आत्मपरिणाम है, वह अन्य से निरपेक्ष है; अन्य से तो निरपेक्ष है ही; किंतु राग से भी निरपेक्ष है; एवं श्रद्धा-ज्ञानादि का एकसाथ कार्य होता है, उसमें भी वे एक-दूसरे के कारण नहीं हैं। ज्ञानगुण से आत्मा स्वयं ज्ञानपरिणतिरूप परिणमित हुआ है, एवं श्रद्धागुण से आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनपरिणतिरूप परिणमित हुआ है। रागादि व्यवहार हो, श्रवण हो, किंतु वह कहीं ज्ञान का कारण नहीं है, श्रद्धा का कारण नहीं है; किसी अन्य की अपेक्षा रखे बिना ज्ञानपरिणति अंतर में आत्मा को अनुभव में ले, तब ज्ञानादि सच्चे होते हैं; किसी गुण की परिणति अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखती। बस, तू अनंत गुणसंपन्न अपने आत्मा के ही सामने देख। वही अपनी शक्ति से कारणकार्यरूप होकर निर्मल पर्यायरूप उल्लसित होगा, अर्थात् परिणमित होगा।

इसलिये कहते हैं कि जिसने आत्मा के कारण-कार्य को पहिचाना, उसने समस्त जिनशासन को पहिचान लिया।

विविध समाचार

इटावा (उ.प्र.)—श्री चंद्रप्रकाश जैन लिखते हैं कि—आपकी संस्था द्वारा पर्वराज के पश्चात् दूसरी बार ब्रह्मचारी हेमराजजी को इटावा भेजकर आपने जो हम पर कृपा की, उसके लिये यहाँ की जैन समाज आभारी है, तथा पूज्य महाराजजी श्री कानजीस्वामी के प्रति आभार प्रगट करती है।

ब्रह्मचारीजी के सान्निध्य से जो यहाँ धर्म की प्रभावना हुई है, वह अवर्णनीय है। आपकी प्रवचन-शैली ने अत्यधिक प्रभावित किया है।

निमित्त-उपादान, कारण-कार्य, कर्ता-कर्म, सामान्य-विशेष गुण तथा स्याद्वाद अनेकांत आदि के विषयों में सरलतापूर्वक दृष्टांत, न्याय, युक्तियों के द्वारा, जिससे हम लोग बिल्कुल अनभिज्ञ थे, विवेचन कर हृदयग्राही बनाया है। साथ-साथ सात तत्त्व के विषय में तथा उनके हेय-उपादेय, ज्ञेय आदि के विषय में प्रवचन बहुत प्रभावशाली रहे हैं।

यहाँ प्रातः जैन सिद्धांत प्रवेशिका के शिक्षण-कार्यक्रम पश्चात् 'समयसार' पर प्रवचन चलता है। मध्याह्न में छहढाला एवं द्रव्यसंग्रह का शिक्षण-कार्यक्रम चलता है। इन दोनों ही शिक्षण-कार्यक्रमों में महिलायें एवं पुरुष काफी संख्या में लाभ उठा रहे हैं। रात्रि ८ से ९ तक मोक्षमार्गप्रकाशक पर बहुत मार्मिक प्रवचन होताा है। जो लोगों ने दया-दान-पूजा आदि में धर्म मान रखा था, वह अग्रहित मिथ्यात्व की भूल निकालने में ब्रह्मचारीजी का प्रवचन प्रभावशाली रहा है। जैन एवं अजैन सभी लोग रुचिपूर्वक भाग ले रहे हैं। यहाँ जैन समाज ने मुमुक्षु मंडल की स्थापना की है। *—चंद्रप्रकाश जैन*

उज्जैन (म.प्र.)—पिछले दिनों यहाँ वीतराग विज्ञान विद्यापीठ जयपुर के तत्त्वावधान में श्री देवकुमारसिंहजी द्वारा शिक्षण शिविर का उद्घाटन हुआ। इंदौर मुमुक्षु मंडल के भी अनेक स्त्री-पुरुषों ने भाग लिया था। श्री पंडित हुकमचंदजी शास्त्री जयपुर के प्रवचन प्रतिदिन तीन बार होते थे जिससे समाज को अच्छा मार्मिक लाभ प्राप्त हुआ। आमंत्रित विद्वानों में श्री पंडित रतनचंदजी, उत्तमचंदजी, पंडित शांतिकुमारजी, श्रीमती कमलादेवी, कुमारी

शांताबहिन आदि पधारे थे। शिक्षण कक्षाएँ दो बार लगती थीं, जिसमें ५०० की संख्या में शिक्षार्थी बैठते थे। परीक्षाफल नब्बे प्रतिशत रहा। पुरस्कार वितरण हुआ। समाज में अच्छी धार्मिक जागृति आयी। नयापुरा उज्जैन में गुलाबबाई पाठशाला में वीतराग विज्ञान पाठशाला की स्थापना की गई। उद्घाटन-विधि श्री रतनबाई लालचंदजी सेठी द्वारा संपन्न हुई। नमक मंडी उज्जैन में वीतराग विज्ञान पाठशाला का उद्घाटन श्री तेजबाई साहब की अध्यक्षता में श्री मुथालालजी चौधरी द्वारा हुआ। हम जयपुर तथा सोनगढ़ की संस्थाओं का अभार प्रगट करते हैं।

—जाफरमल जैन

आवश्यक विज्ञप्ति

यदि ग्राहक संख्या पर्याप्त हो जाये तो निम्नोक्त ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना है:—

१- पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (स्व. पंडित टोडरमलजीकृत हिन्दी टीका)

२- मोक्षशास्त्र (संग्राहक-श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी) करीब ८०० पृष्ठ

३- समयसार प्रवचन (भाग ३-४-५)

४- आत्मप्रसिद्धि (समयसारजी में ४७ शक्तियों का वर्णन है, उस पर स्वामीजी के विस्तृत प्रवचन)

प्रथम ग्राहक बनना आवश्यक है। डिपाजिट नहीं लिया जाता। सिर्फ आप अपनी आवश्यक प्रतियों की संख्या सूचित करें। जहाँ मुमुक्षु मंडल हो, वहाँ उसके द्वारा सूचना भिजवायें।

पता—दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

'श्री समयसार नाटक'

छपकर तैयार हो चुका है। कुछ ही दिनों में ग्राहकों को भिजवा रहे हैं। जिन महानुभावों ने आर्डर लिखवाये हों, वे अपना पूरा पता रेलवे स्टेशन सहित लिखें।

पता—दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शासकीय जनगणना मार्च में

देश में अकस्मात् चुनाव होने के कारण अन्य कार्यक्रमों में परिवर्तन हो रहे हैं। जनगणना पर भी इसका प्रभाव आना आवश्यक था। सरकार ने अपनी पहली घोषणा में जनगणना की तिथि १० फरवरी के स्थान पर १ फरवरी निश्चित की थी। परंतु अकस्मात फिर यह घोषणा की है कि जनगणना मार्च में होगी। इसलिये समस्त जैनसमाज से निवेदन है कि वह इन परिवर्तनों के कारण भ्रम में ना पड़े और अपने कार्यों में पूरी शक्ति के साथ लगी रहे।

कार्यकर्ताओं को यह एक विशेष अवसर मिला है कि वह चुनाव-कार्य के साथ-साथ अपना जैन लिखाओ आंदोलन जैनसमाज के अंदर अधिक से अधिक कर सकेंगे। प्रत्येक कार्यकर्ता को इस बात का विशेष ध्यान रखना है कि जो जनगणना करनेवाले अधिकार उनके क्षेत्र में जनगणना करने के लिये आयेंगे, उनसे जनगणना से पूर्व ही संपर्क बना लें जिससे कि वह सही-सही अंकित करें। यह विशेष रूप से ध्यान में रखना है।

निवेदक —भगतराम जैन, मंत्री, अ. भा. जैनगणना समिति

हिंसा बंद करने की भारी मांग

दिनांक २५-१२-७० को प्रधानमंत्री श्री हीराचंद जैन, श्री महावीर जैन-सभा, मांडवला ने जयपुर का दौर किया। राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़ियाजी से कोई राजनैतिक बातचीत के दौरान निम्न प्रकार हिंसा बंद करने की प्रधानमंत्री हीराचंद जैन ने भारी मांग कर तार भेजे हैं:—

१- राजस्थान में देवी-देवताओं के स्थान पर बलि नहीं चढ़ाई जावे। जिसकी मांग मुख्यमंत्री राजस्थान से की है।

२. शीलादेवी पर जयपुर में १ बकरा हमेशा राजघराने से चढ़ाते हैं। मांग राजमाता श्रीमती गायत्रीदेवी महारानी हिंसा नहीं करवाने बावत।

३. नेपाल में काठमाण्डु कालकादेवी पर एक सप्ताह में एक हजार बकरे आम जनता बलि चढ़ाती है, जिसको बंद करवाने बावत महाराजा नेपाल, काठमाण्डु को तार भेजकर मांग की है।

उपरोक्त हिंसा, बंद कराने की मांग है और अहिंसा प्रेमियों से निवेदन है कि आप उपरोक्त कार्य मुताबिक मांग कर प्रयत्न करावें।

—हीराचंद जैन, ओ. प्रधानमंत्री, महावीर जैन सभा, मांडवला (राज.)

आध्यात्मिक पद

सम्यग्ज्ञान बिना, तेरो जनम अकारथ जाय।सम्यग्ज्ञान०।टेक॥
अपने सुख मैं मगन रहत नहिं पर की लेत बलाय।
सीख सुगुरु की एक न मानै, भव भव मैं दुःख पाय।सम्यग्ज्ञान०॥१॥
ज्यों कपि आप काल लीलाकरि, प्राण तजै बिललाय।
ज्यों निज मुखकरि जाल मकरिया, आप मरै उलझाय।सम्यग्ज्ञान०॥२॥
कठिन कमायो सब धन ज्वारी, छिन मैं देत गमाय।
जैसे रतन पायके भौंदू, विलखे आप गमाय।सम्यग्ज्ञान०॥३॥
देव शास्त्र गुरु को निहचैकरि, मिथ्यामत मति ध्याय।
सुरपति वांछा राखत याकी, ऐसी नर परजाय।सम्यग्ज्ञान०॥४॥

❀❀❀

मति वृथा गमावै, सहसा नहि पावै, मानुष जन्म को।टेर॥
मानुष जन्म निरोगी काया, उरविवेक चतुराई।
धर्म अधर्म पिछान किये बिन, काम कछू नहिं आई जी।मति वृथा०॥१॥
जिनवर धर्म दिगंबर ताकों, यदि उर धरनों भाई।
तौ आगम अनुसार देवगुरु, तत्त्वपरखि सुखदाई जी।मति वृथा०॥२॥
खान पान अरु विषयभोग के, सेवन की चतुराई।
कूकर शूकर पशु भी करते, थामें कहा बड़ाई जी।मति वृथा०॥३॥
क्षणभंगुर विषयनि के काजै, निर्भय पाय कमावै।
हे नर करत कहा अनरथ यह, शुभशिक्षा न सुहावै जी।मति वृथा०॥४॥
बहुविधिप ापक रतह रखावै,स बकु टंबा मलख ावै।
दुख पावै जब नरक धरामैं, कोइ न काम जु आवै जो।मति वृथा०॥५॥
मानुष देह रतनसम पाकर, जो निजहित करवावै।
कहत 'जिनेश्वर' सो नरभव के धारन कौ फल पावैजो।मति वृथा०॥६॥

आत्मा का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	'' '' '' भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	शास्त्र का अर्थ समझने की पद्धति	०.१०
१७	श्रावक धर्मप्रकाश	२.००
१८	अष्ट-प्रवचन (भाग-१)	१.५०
१९	अष्ट-प्रवचन (भाग-२)	१.५०
२०	मोक्षमार्गप्रकाशक	२.५०
२१	पं. टोडरमलजी स्मारिका विशेषांक	१.००
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२४	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२६	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
२७	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-३	०.६५
	छह पुस्तकों का कुल मूल्य	३.२५
२८	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२९	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
३०	मंगल तीर्थयात्रा (सचित्र)	६.००
३१	मोक्षमार्गप्रकाशक ७वाँ अध्याय	०.५०
३२	जैन बालपोथी भाग-२	०.४०
३३	अष्टपाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) पं. जयचंदजीकृत भाषावचनिका	प्रेस में
३४	तत्त्वनिर्णय	०.२०
३५	शब्द-कोष	०.२०
३६	हितपद संग्रह (भाग-२)	०.७५

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)